परमार्थ ग्रन्थ-माला

दूसरा पुष्प

मानव-धर्म

हनुमानप्रसाद पोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक—
घनश्यामदास
गीताप्रेस, गोरखपुर

मूल्य ≡) तीन आना

प्रथम बार २००० संवत् १९८६
द्वितीय बार २००० संवत् १९८८ } पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

सूची

श्रीहरिः

प्रातःकालकी प्रार्थना

राग-जैजैवन्ती ताल-कुमरा ।

कर प्रणाम तेरे चरणोंमें लगता हूँ अब जगके काज ।
पालन करनेको आज्ञा तव मैं नियुक्त होता हूँ आज ॥
अन्तरमें स्थित रहकर मेरे बागडोर पकड़े रहना ।
निपट निरंकुश चञ्चल मनको सावधान करते रहना ॥
अन्तर्यामीको अन्तःस्थित देख सशंकित होवे मन ।
पाप-वासना उठते ही हो नाश लाजसे वह जलभुन ॥
जीवोंका कलरव जो दिनभर सुननेमें मेरे आवे ।
तेरा ही गुणगान जान मन प्रमुदित हो अति सुख पावे ॥
तू ही है सर्वत्र व्याप्त प्रभु तुझमें सारा यह संसार ।
इसी भावनासे अन्तर भर मिलूँ सभीसे तुझे निहार ॥
प्रतिक्षण जिन इन्द्रिय-समूहसे, जो कुछ भी आचार करूँ ।
केवल तुझे रिझानेको बस तेरा ही व्यवहार करूँ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

मानव-धर्म

(मनुष्यके दश धर्म)

धर्मकी आवश्यकता

महाभारतमें कहा है—

> धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम् ।
> धर्माल्लोकांस्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥

'धर्म ही सत्पुरुषोंका हित है, धर्म ही सत्पुरुषोंका आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्महीसे चलते हैं ।'

हिन्दू-धर्मशास्त्रोंमें धर्मका बड़ा महत्त्व है, धर्महीन मनुष्यको शास्त्रकारोंने पशु बतलाया है । धर्म शब्द 'धृ' धातुसे निकला है जिसका अर्थ धारण करना या पालन करना होता है । जो संसारके समस्त जीवोंके कल्याणका कारण हो, उसे ही धर्म समझना चाहिये, इसी बातको लक्ष्यमें रखते हुए निर्मलात्मा त्रिकालज्ञ

ऋषियोंने धर्मकी व्यवस्था की है। हिन्दू-शास्त्रोंके अनुसार तो एक हिन्दू-सन्तानके जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त समस्त छोटे-बड़े कार्योंका धर्मसे सम्बन्ध है। हिन्दुओंकी राजनीति और समाजनीति धर्मसे कोई अलग वस्तु नहीं है। अन्य धर्मावलम्बियोंकी भाँति हिन्दू, केवल साधन-धर्मको ही धर्म नहीं मानते, परन्तु अपनी प्रत्येक क्रियाको ईश्वरार्पण करके उसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधनोपयोगी बना सकते हैं।

धर्म चार प्रकारके माने गये हैं—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, सामान्य-धर्म और साधनधर्म। ब्राह्मणादि वर्णोंके पालन करने योग्य भिन्न-भिन्न धर्म, वर्णधर्म और ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंके पालन करने योग्य धर्म, आश्रमधर्म कहलाते हैं। सामान्यधर्म उसे कहते हैं जिसका मनुष्यमात्र पालन कर सकते हैं। उसीका दूसरा नाम मानव-धर्म है। आत्मज्ञानके प्रतिबन्धक प्रत्यवायोंकी निवृत्तिके लिये जो निष्काम कर्मोका अनुष्ठान होता है वह (यानी समस्त कर्मोंका ईश्वरार्पण करना) साधनधर्म कहलाता है। इन चारों धर्मोंके यथायोग्य आचरणसे ही हिन्दू-धर्मशास्त्रोंके अनुसार मनुष्य पूर्णताको प्राप्त कर सकता है। इन चारोंमेंसे कोई ऐसा धर्म नहीं है जिसकी उपेक्षा की जा सकती हो। वर्ण और आश्रमधर्मका तो भिन्न-भिन्न पुरुषोंद्वारा भिन्न-भिन्न अवस्थामें पालन किया जाता है, परन्तु तीसरा सामान्यधर्म ऐसा है कि जिसका आचरण मनुष्यमात्र प्रत्येक

समय कर सकते हैं और जिसके पालन किये बिना केवल वर्ण या आश्रमधर्मसे पूर्णताकी प्राप्ति नहीं होती । इस कथनका यह तात्पर्य नहीं है कि वर्णाश्रमधर्म सामान्यधर्मकी अपेक्षा कम महत्त्वकी वस्तु है या उपेक्षणीय है तथा यह बात भी नहीं है कि वर्णाश्रमधर्ममें सामान्यधर्मका समावेश ही नहीं है । सामान्यधर्म इसीलिये विशेष महत्त्व रखता है कि उसका पालन सब समय और सभी कर सकते हैं, परन्तु वर्णाश्रमधर्मका पालन अपने-अपने स्थान और समयपर ही किया जा सकता है। ब्राह्मण शूद्रका या शूद्र ब्राह्मणका धर्म स्वीकार नहीं कर सकता, इसी प्रकार गृहस्थ संन्यासीका या संन्यासी गृहस्थका धर्म नहीं पालन कर सकता, परन्तु सामान्यधर्मके पालन करनेका अधिकार प्रत्येक नर-नारीको है, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रमका हो । इससे कोई सज्जन यह न समझें कि सामान्यधर्मके पालन करनेवालेको वर्णाश्रमधर्मकी आवश्यकता ही नहीं है । आवश्यकता सबकी है अतएव किसीका भी त्याग न कर, सबका समुच्चय करके यथाविधि योग्यतानुसार प्रत्येक धर्मका पालन करना और उसे ईश्वरार्पण कर परमार्थके लिये उपयोगी बना लेना उचित है ।

शास्त्रकारोंमेंसे किसीने सामान्यधर्मके लक्षण आठ, किसीने दश, किसीने बारह और किसी-किसीने १५, १६ या इससे भी अधिक बतलाये हैं । श्रीमद्भागवतके सप्तमस्कन्धमें इस सनातन-धर्मके तीस लक्षण बतलाये हैं और वे बड़े ही महत्त्वके

हैं*। विस्तार-भयसे यहाँपर उनका विस्तृत वर्णन न कर केवल भगवान् मनुके बतलाये हुए धर्मके दश लक्षणोंपर ही कुछ विवेचन किया जाता है।

मनु महाराज कहते हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति ६।९२)

'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दश धर्मके लक्षण हैं।'

---

* सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथाऽर्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(भागवत ७।११।८-१२)

सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, सत्-असत्‌का विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, आर्जव, सन्तोष, समदृष्टि-सम्पन्न पुरुषोंकी सेवा, प्रवृत्ति-जनक कर्मोंसे निवृत्ति, मनुष्यकृत कर्मोंकी निष्फलताका ज्ञान, व्यर्थ बातोंका त्याग,

ये ऐसे धर्म हैं कि जिनमें किसी भी जाति या सम्प्रदायको आपत्ति नहीं हो सकती। सत्य बात तो यह है कि यही मनुष्य-जातिके स्वाभाविक धर्म हैं। मनुष्यमें मनुष्यत्वका विकास इन्हीं धर्मोंके आचरणसे हो सकता है। जिस समय मनुष्य अपने स्वभावके विरुद्ध इन धर्मोंका पालन करना छोड़ देता है उसी समय उसकी अधोगति होती है। जब मनुष्य-जातिमें इन धर्मोंकी प्रधानता थी तब जगत्में सुख और शान्तिका साम्राज्य था, ज्यों-ज्यों इन धर्मोंके पालनसे मनुष्य-जाति विमुख होने लगी, त्यों-ही-त्यों उसमें दुःख और अशान्तिका विस्तार होने लगा और आज जगत्के मनुष्यप्राणी इन्हीं धर्मोंके बहुत अंशमें ह्रास हो जानेके कारण अपने-अपने क्षुद्र स्वार्थसाधनके लिये, परस्पर वैर-भावको प्रश्रय देते हुए हिंसक पशुओंकी भाँति खूँखार बनकर, एक दूसरेको ग्रास कर जानेके लिये तैयार हो रहे हैं और इसीसे आज अपनेको बुद्धिमान् समझनेवाले मनुष्योंकी बस्तियोंमें प्रायः कहींपर भी सुख-शान्ति देखनेमें नहीं आती। जिधर देखिये, उधर ही देश-के-देश दुःखके दावानलसे दग्ध हो

आत्मविचार, सब प्राणियोंको बाँटकर अन्न खाना, सबमें परमात्माको देखना, श्रीहरिके नाम और गुणोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना, श्रीहरिकी सेवा करना, पूजा करना, प्रणाम करना, अपनेको श्रीहरिका दास समझना, अपनेको उनका मित्र मानना और श्रीहरिके (चरणकमलोंमें) आत्मसमर्पण कर देना, इन तीस लक्षणोंसे युक्त यह सनातनधर्म सभी मनुष्योंका साधारण धर्म है, इसके पालनसे सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न होते हैं।

रहे हैं। धनी-से-धनी और गरीब-से-गरीब सभी अशान्त प्रतीत होते हैं। दरिद्र, कङ्गाल और दलितोंकी अभावमयी अशान्ति और उनका दुःख तो प्रत्यक्ष ही प्रकट है, परन्तु बड़ी ऊँची-ऊँची विशाल अट्टालिकाओंमें रहनेवाले, दिन-रात मखमली गुदगुदे गद्दोंपर लेटनेवाले, मोटरों और वायुयानोंमें स्वच्छन्द सैर करनेवाले, बड़ी-बड़ी मिलों और कारखानोंवाले, सब प्रकारकी विलास-सामग्रियोंको इशारा करते ही अपने पास मौजूद पानेवाले, ऊँचे-से-ऊँचे पदोंपर प्रतिष्ठित होकर जनतापर इच्छानुसार हुकूमत करनेवाले, विज्ञानके नये-नये आविष्कारोंसे जगत्को स्तम्भित करनेवाले, युद्धसामग्रियोंके प्रचुर संग्रहसे दूसरे देशों और जातियोंको भयभीत करनेवाले, अपने कवित्वकी अद्भुत कलासे लोगोंको मुग्ध करनेवाले, धर्मोपदेशकके आसनपर बैठकर स्वर्गका सीधा मार्ग बतानेवाले, आँख मूँदे हुए सिर हिला-हिलाकर सुननेवाले, सम्पादककी कुर्सीपर बैठकर सारे जगत्की समालोचना करनेवाले, बड़ी-बड़ी सभाओंमें चिल्ला-चिल्लाकर शब्दोंकी झड़ी लगानेवाले और संसारके अन्यान्य व्यापारोंमें बड़ी-से-बड़ी कृति करनेवाले लोगोंकी हृदय-गुफाओंमें यदि घुसकर देखा जाय तो सम्भवतः उनमेंसे अधिकांशका अन्तर अशान्तिकी धधकती हुई ज्वालासे जलता हुआ मिलेगा ! अपने-अपने हृदयपर हाथ धरकर हमलोग देख लें कि हमारी वस्तुतः क्या दशा है, समस्त बाह्याडम्बरोंके भीतर किस तरह भयानक अग्नि सुलग रही है !! इसका प्रधान कारण यदि विचारकर

देखें तो बहुत अंशमें यही प्रतीत होता है कि हमलोगोंने परमात्माको भुलाकर और उसकी प्रसन्नताके हेतुभूत सामान्य मानव-धर्मका न्यूनाधिक रूपमें तिरस्कार कर मनुष्यस्वभावके सर्वथा विपरीत पशुधर्मका आचरण आरम्भ कर दिया ! हमलोग इस बातको प्रायः भूल गये कि—

✓ 'धर्म ही मनुष्यका आधार है, धर्म ही जीवन है और धर्म ही मरनेपर साथ जाता है।' मनु महाराज कहते हैं—

नामुत्र हि सहायार्थं पितामाता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥

(मनुस्मृति ४।२३९-२४२)

'पिता, माता, पुत्र, स्त्री और जातिवाले ये परलोकमें सहायता नहीं करते, केवल एक धर्म ही सहायक होता है। प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही पुण्य-पापका भोग करता है; भाई-बन्धु तो मरे शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेकी तरह पृथ्वीपर छोड़कर वापस लौट आते हैं, केवल धर्म ही प्राणीके पीछे-पीछे जाता है। अतएव परलोककी सहायताके

लिये प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा धर्मसञ्चय करे, क्योंकि मनुष्य धर्मकी सहायतासे कठिन नरकादिसे तर जाता है।'

धर्माचरणमें यदि आरम्भमें कुछ कठिनता प्रतीत हो तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिये।

मनु महाराज कहते हैं—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम्॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥
अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनुस्मृति ४।१७१, १७२, १७४)

'पापी अधर्मियोंकी शीघ्र ही बुरी गति होती है ऐसा समझकर पुरुषको चाहिये कि धर्मसे दुःख पाता हुआ भी अधर्ममें मन न लगावे। जैसे पृथिवी शीघ्र फल नहीं देती वैसे ही संसारमें किया हुआ अधर्म भी तत्काल फल नहीं देता है किन्तु किया हुआ अधर्म, करनेवालेको धीरे धीरे जड़मूलसे नष्ट कर देता है। अधर्मी पहले अधर्मसे (सम्भवतः) बढ़ता है, फिर उससे अपना भला देखता है, फिर शत्रुओंको जीतता है और अन्तमें समूल नाश हो जाता है।'

इन वचनोंपर ध्यान देकर हम सबको धर्मका पालन करनेके लिये यत्नवान् होना चाहिये!

अगले दश निबन्धोंमें मनुकथित उपर्युक्त दश धर्मोंपर कुछ विचार किया जाता है।

धृति

मनु महाराजके दश धर्मोंमेंसे सबसे पहला धर्म 'धृति' है जिसका अर्थ धैर्य, धारणा, सन्तोष या सहनशीलता किया जाता है। कहा है—

> निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
> लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
> न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

'बुद्धिमान् लोग निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मीजी आवें या प्रसन्नतासे चली जायँ, मृत्यु आज ही हो जाय या युगान्तरमें हो परन्तु धैर्यवान् लोग न्यायके पथसे कभी विचलित नहीं होते।'

प्रायः प्रत्येक कार्यकी सफलतामें धैर्यकी आवश्यकता हुआ करती है। धैर्यवान् पुरुष बड़े-से-बड़े सङ्कटको आसानीसे पार कर सुखी होते हैं। उन्हें सहजमें पापका स्पर्श नहीं होता। धैर्यकी परीक्षा सङ्कट-कालमें और इच्छित वस्तुकी प्राप्तिमें विलम्ब होनेपर हुआ करती है। ऐसे समय जो लोग धैर्यको बचा सकते हैं वे बड़ी-बड़ी पाप-वासनाओंको परास्तकर प्रायः इच्छित वस्तुकी प्राप्ति कर सकते हैं परन्तु जो धैर्यका त्याग कर बैठते हैं, उनका अनेक प्रकारके पापोंमें लिप्त होना सम्भव है, जिसका फल

अत्यन्त भयप्रद होता है और उनके कार्यकी सिद्धिमें तो सन्देह रहता ही है ।

काम, क्रोध, लोभ, भय, व्यसन और शारीरिक कष्टके समय धैर्यका नाश होता है । उदाहरणार्थ—

(१) किसीको स्त्रीकी इच्छा है परन्तु उसकी स्त्री अपने पिताके यहाँ गयी है या अभीतक उसका विवाह नहीं हुआ है । इस अवस्थामें धैर्य धारण करनेवाला ही अपने जीवनको पवित्र बनाये रखता है । धैर्य छोड़ देनेवालेको अवश्य ही पापोंका शिकार बनना पड़ता है और उन पापोंका फल इस लोक और परलोकमें कितना भयानक होता है सो बतलानेकी आवश्यकता नहीं !

(२) मनके विरुद्ध कार्य होते ही मनुष्यके चित्तमें एक ऐसी जलती हुई वृत्ति उत्पन्न होती है जो उसके सारे शरीरमें आग-सी लगा देती है । शरीर और चेहरा लाल हो जाता है, आँखोंमें सबसे अधिक लाली आती है । शरीर काँपने लगता है, इन्द्रियाँ बड़े जोरसे बेकाबू होना चाहती हैं, ऐसी अवस्थामें धैर्य न रखनेवाला मनुष्य अपनी या दूसरोंकी बड़ी-से-बड़ी हिंसातक कर बैठता है जिसका परिणाम प्रायः सभी जानते हैं ।

(३) धनकी इच्छा है परन्तु धन मिलनेमें विलम्ब हो रहा है, किसी तरहसे भी हो धन शीघ्र मिलना चाहिये, ऐसी अवस्थामें भी धैर्य छूट जाता है और इसीके परिणामस्वरूप चोरी, डकैती और खून वगैरह हुआ करते हैं ।

(४) किसी काममें रुपया लग गया, पासमें है नहीं, न देनेसे इज्जत जाती है, बड़ा भय है, प्रायः भले-भले आदमी ऐसी अवस्थामें धैर्य छोड़कर आत्महत्यातक कर बैठते हैं। अथवा पापी अधिकारी कहता है, 'तुम सत्य बोलोगे तो मार दिये जाओगे।' 'भगवान्‌का नाम लोगे तो जीभ काट ली जायगी।' 'धर्म नहीं छोड़ोगे तो दीवारमें चुनवा दिये जाओगे।' 'तुम अपना सतीत्व त्यागकर व्यभिचारमें प्रवृत्त न होओगी तो सिर उड़ा दिया जायगा।' ऐसी धमकियोंमें मनुष्य प्राणभयसे धैर्यको छोड़ देता है। इस अवस्थामें जो धैर्यको सँभालता है, धैर्य उसके धर्म, परलोक और कीर्तिकी रक्षा करता है।

(५) एक रोगी है, उसे मीठा खानेका व्यसन है, पेटमें बीमारी है, वैद्यने मीठा खानेके लिये मने कर दिया है परन्तु वह नहीं मानता। मीठा देखते ही उसका धैर्य छूट जाता है और परिणाममें मृत्युका ग्रास होना पड़ता है।

(६) प्रह्लादका शरीर हाथीसे कुचलवाया जाता है, साँपोंसे कटवाया जाता है, गुरु गोविन्दसिंहके बालक-पुत्रोंको दीवारमें जीते जी चुनवाया जाता है, ऐसी अवस्थामें धैर्य रखनेसे ही आजतक उनका नाम अमर है। धैर्य न रखनेवाला थोड़े समयके लिये शारीरिक कष्टसे भले ही मुक्त हो जाय परन्तु उसका परिणाम बड़ा ही दुःखद होता है।

इसप्रकार अनेक कारणोंसे धैर्यका छूटना सम्भव होता है, परन्तु चेष्टा करनेपर धैर्यकी रक्षा हो सकती है ! धैर्य हो सत्य और टेककी रक्षा करता है। यदि धैर्य न होता तो आज हरिश्चन्द्र, मयूरध्वज, पितामह भीष्म, युधिष्ठिर और अर्जुनका इतना नाम नहीं रहता। राणा प्रतापके नामको अमर बनानेवाला धर्म धैर्य ही है, एक बार जरासा धैर्य छूटनेपर सारी टेकपर पानी फिरने लगा था, परन्तु भगवान्‌ने उन्हें बचाया !

धैर्य अन्यान्य धर्मोंके पालनमें एक बड़ा सहायक है, इसीलिये सम्भवतः मनु महाराजने सबसे पहले इसका नाम लिया है। भगवत्-प्राप्तिके लिये जब साधक पहले-पहले साधनामें प्रवृत्त होता है, तब धैर्य ही उसका प्रधान सहायक होता है ! धैर्य-युक्त बुद्धि हुए बिना मनका वशमें होना सम्भव नहीं और मनके वशमें हुए बिना परमात्माकी प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। जो साधक दश पाँच दिनोंकी साधनासे ही उकता कर धैर्य छोड़ देता है वह जहाँ-का-तहाँ रह जाता है, परन्तु जो धैर्यके साथ साधनमें लगा रहता है उसके हृदयमें साधनकी परिपक्वता होनेपर परमात्मा-को पानेके लिये अचल धैर्यके परिणामस्वरूप एक विलक्षण अधीरता उत्पन्न होती है और उसके उत्पन्न होते ही परमात्माके कल्याणमय दर्शनका शुभ समय आ पहुँचता है।

क्षमा

दूसरा धर्म है क्षमा। अपना अपकार करनेवालेसे बदला लेनेकी पूरी सामर्थ्य रहते हुए भी बदला न लेकर उस अपकारको प्रसन्नताके साथ सहन कर लेना क्षमा कहलाता है।

सत्यपि सामर्थ्ये अपकारसहनं क्षमा।

मनुष्य मायासे मोहित है, मोहके कारण वह भोगोंमें सुख समझकर उनकी प्राप्तिके लिये परिणाम न सोचकर दूसरेका अनिष्ट कर बैठता है। मनसे साधारण प्रतिकूल घटनामें ही मनुष्य अपना अनिष्ट मान लेता है और उसी अवस्थामें उसे क्रोध आता है। आगे चलकर इसी क्रोधके कई रूप बन जाते हैं, जिन्हें द्वेष, वैर, प्रतिहिंसा और हिंसा आदि नामोंसे पुकारा जाता है। जिस समय किसीके प्रति मनमें द्वेप उत्पन्न होता है उसी समयसे अमङ्गलका प्रारम्भ हो जाता है। किसीको अपना शत्रु समझकर उससे बदला लेनेकी प्रवृत्तिसे न केवल उस वैरीका ही अनिष्ट होता है, वरं अपना भी महान् अनिष्ट होता है, दिन-रात हृदय जला करता है। इतनेमें ही इस अमङ्गलकी समाप्ति नहीं हो जाती। दोनों ओरसे द्वेष और प्रतिहिंसाकी पुष्टि होते होते परस्पर त्रिविध प्रकारसे संघर्षण होने लगता है और उससे एक ऐसा प्रबल दावानल जल उठता है जो बड़ी-बड़ी जातियों और राष्ट्रोंको भस्म कर डालता है। जगत्के बड़े-बड़े युद्ध आरम्भमें दो चार मनुष्योंके परस्पर मनो-

मालिन्यके आधारपर ही हुए हैं। यदि मनुष्य अपने ही जैसे दूसरे मनुष्यकी किसी भूलको द्वेष न समझकर उसपर क्षमा कर दे तो उन दोनोंके साथ-ही-साथ सारा समाज भी बड़े अनर्थसे बच सकता है।

हम जिस घटनाको अपनी बुराई समझते हैं वह वास्तवमें हमारी बुराई ही है ऐसा कोई निश्चय नहीं है। बहुत बार मनुष्य किसी घटनासे अपना अनिष्ट समझता है, पर वही घटना परिणाममें उसके सुखका कारण सिद्ध होती है। हम भूलसे मनके प्रतिकूल प्रत्येक घटनामें ही प्रायः अनिष्ट देखते हैं। यह निश्चित बात है कि सभी घटनाएँ या दूसरोंके द्वारा किये हुए सभी कार्य हमारे मनके अनुकूल नहीं हो सकते, सबके मनकी भावना और प्रवृत्ति तथा सबकी परिस्थिति समान नहीं हो सकती। कभी कभी तो एक दूसरेकी सर्वथा विपरीत परिस्थिति रहती है। हमें किसी दूसरेके एक कार्यमें अपना अनिष्ट दीख पड़ता है या कहीं-कहीं-पर उससे हमारे स्वार्थमें कुछ बाधा पहुँचती दिखायी देती है परन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि उस मनुष्यने वास्तवमें जान-बूझकर हमारे स्वार्थमें हानि पहुँचानेके लिये वह काम किया है। व्यापारी-जगत्में बहुत बार हमें ऐसा अनुभव होता है। दो व्यापारियोंके पास एक तरहका माल है, एक व्यापारी समझता है कि इस मालकी बड़ी तेजी होगी, इससे वह अपना माल केवल कम दामोंमें बेचना बन्द ही नहीं करता

परन्तु तेजीकी आशासे बाजारसे वैसा माल और भी खरीद करता है। पक्षान्तरमें दूसरे व्यापारीकी समझमें किसी कारणवश उस वस्तुकी बड़ी मन्दी जँचती है या उसे नक़द रुपयोंकी आवश्यकता हो गयी है और वह अपना माल भाव घटाकर तुरन्त बेचता है, उसका उद्देश्य अपना माल बेच डालना है न कि तेजीवाले व्यापारीका अनिष्ट करना, परन्तु उसका यह कार्य तेजीवाले व्यापारीके मनके और स्वार्थके प्रतिकूल होता है और इससे उसकी धारणा हो जाती है कि मन्दीवाला मेरी उन्नति नहीं देख सकता इसीलिये मन्दे भावमें माल बेचकर मुझे नुकसान पहुँचा रहा है, यह भावना ज्यों-ज्यों पुष्ट होती है त्यों-ही-त्यों वह भी मन्दीवाले व्यापारीको जान-बूझकर नुकसान पहुँचानेकी चेष्टा करने लगता है, जब मन्दीवालेको इस बातका पता लगता है तब उसके मनमें भी द्वेष उत्पन्न हो जाता है और वह भी खुल्लमखुल्ला तेजीवालेकी अनिष्ट-कामना करने लगता है। द्वेष बद्धमूल हो जाता है, दोनों ओरसे ऐसी कार्यवाहियाँ होने लगती हैं जिससे दोनोंकी आर्थिक हानि होती है और परस्परमें सदाके लिये वैर बँध जाता है जो जीवनभर दोनोंको कष्ट देता है। एक दूसरेके बन्धु-बान्धव और सगे-सम्बन्धी भी परस्पर एक दूसरेको वैरी समझने लगते हैं, परिणाम यह होता है द्वेषकी विष-वेलि चारों ओर फैलकर सारे समाजपर छा जाती है और प्रायः सबके जीवनको अशान्त और दुखी कर डालती है। कलकत्ते और बम्बई-सरीखे बड़े व्यापारी-

नगरोंमें रहनेवाले व्यापारियोंको इसका बड़ा अनुभव है। यह केवल एक उदाहरण है। केवल व्यापारी-जगत्‌में ही ऐसा नहीं होता, परन्तु साहित्य, विज्ञान, धर्म, सम्प्रदाय, सेवक, नेता, जाति, राष्ट्र आदि सभीमें परस्पर गैरसमझसे इसप्रकारके अनर्थ हुआ करते हैं। जो शक्ति जगत्‌की भलाईमें व्यय होनी चाहिये वही शक्ति एक दूसरेके विनाशके लिये व्यय की जाती है। इससे यह सिद्ध हो गया कि हमें जिस मनुष्यके जिस कार्यसे कुछ हानि पहुँचती है उसने वह काम जानबूझकर ही हमें हानि पहुँचानेके लिये किया हो, सभी जगह ऐसी बात नहीं होती। हमारी भ्रान्त-धारणा ही उसके कार्यको इस रूपमें परिणत कर देती है।

दूसरेके द्वारा अपना कोई अनिष्ट होते देखकर सबसे पहले इस बातका विचार करना चाहिये कि वास्तवमें इसमें हमारा कोई नुकसान है या नहीं। बहुत बार मनुष्य क्रोध या द्वेषके विकारमें इस बातका स्वयं निर्णय नहीं कर सकता। ऐसी स्थितिमें उसे चाहिये कि वह आसपासके किसी सत्पुरुष (जिसपर उसकी श्रद्धा हो) के पास जाकर उससे पूछे कि अमुक मनुष्यके अमुक कार्यसे वास्तवमें मेरी कोई हानि है या नहीं ? सत्पुरुषकी रागद्वेषरहित बुद्धिसे बड़ा सुन्दर निर्णय होता है। यदि वह यह कह दें कि इसमें तुम्हारी कोई हानि नहीं, तब तो क्रोध करनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता। कदाचित् उनके विवेकसे भी यह साबित हो जाय कि उक्त कार्यसे वास्तवमें हमारी हानि

होगी तब उसका कारण ढूँढ़ना चाहिये । बिना कारणके कार्य नहीं होता, यह सिद्धान्त है, फिर उसने हमारा नुकसान क्यों किया ? क्या हमने कभी उसको जान-बूझकर नुकसान पहुँचाया था या कभी उसके लिये अनिष्ट-कामना की थी ? यदि कभी ऐसा नहीं किया तो क्या हमसे कभी कोई ऐसी भूल हुई थी, जिससे उसको नुकसान पहुँचा हो ? यदि कभी ऐसा हुआ है तो वह क्या बुरा करता है ? क्या हमारा नुकसान करनेवालेके लिये हमारे मनमें कभी प्रतिहिंसाके भाव नहीं आते ? यदि आते हैं तो हमें क्या अधिकार है कि हम अपने ही जैसे एक मनुष्यके हृदयमें अपने ही सदृश भावोंके उदय होनेपर उसका बुरा चाहें या करें ? हमें चाहिये कि अपनी भूलके लिये पश्चात्ताप करें और शुद्ध तथा सरल चित्तसे विनयपूर्वक उससे क्षमा-याचना करें । बार-बार क्षमा-याचना करनेपर यह सम्भव नहीं कि वह हमें क्षमा न कर दे । ऐसी अवस्थामें अभिमान और झूठी ऐंठ तथा अकड़को त्यागकर क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये ।

यदि अच्छी तरह आत्मनिरीक्षण कर लेनेपर भी अपना कहीं कोई भी दोष न प्रतीत हो तो धीरतापूर्वक यह देखना चाहिये कि उस मनुष्यने उक्त कार्य किस परिस्थितिमें किया, उसकी नीयत हमें नुकसान पहुँचानेकी थी या किसी परिस्थितिमें पड़कर उसे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा है । यदि हम उसके-जैसी परिस्थितिमें होते तो क्या करते ? इस जाँचसे यदि यह सिद्ध हो जाय कि

उसने बुरी नीयतसे काम नहीं किया है। परिस्थिति ही उस कार्यका कारण है तो फिर हमें कोई अधिकार नहीं रह जाता कि हम उसपर क्रोध करें।

कदाचित् यही सिद्ध हो कि उसने जान-बूझकर हमें नुकसान पहुँचानेके लिये ही ऐसा किया है तो इससे यह निश्चय होता है कि वह भ्रममें है। जो मनुष्य किसी दूसरेकी हानि करना चाहता है, वह स्वयं अपनी ही हानि करता है, यह सिद्धान्त है। अतएव जो अपना नुकसान आप करता है वह भ्रममें पड़ा हुआ है—पागल है, भूला हुआ या पागल सर्वथा क्षमाका पात्र होता है। उसपर हमें क्रोध करनेका क्या अधिकार है? यदि हम उसपर क्रोध करते हैं तो न केवल अपना नुकसान करते हैं वरं सारे जगत्को नुकसान पहुँचाते हैं। क्योंकि हम भी तो इस विश्व-शरीरके एक अङ्ग हैं, यदि एक अङ्ग विषसे दूषित होता है तो सारे शरीरपर उसका प्रभाव पड़ता है और धीरे-धीरे समस्त शरीर विषसे आक्रान्त हो जाता है। ऐसी स्थितिमें अपने, उसके और जगत्भरके मंगलके लिये अपना अपकार करनेवालेपर क्षमा करना ही सर्वोत्तम साधन है। यदि मनुष्य-समाज इस सिद्धान्तको स्वीकार कर ले और इसके अनुसार वर्ताव करने लगे, यदि परस्परमें लोग एक दूसरेके प्रति क्रोध या प्रतिहिंसाके भावोंसे काम लेनेके पूर्व इसप्रकारसे विचार कर लिया करें तो जगत् बड़े-बड़े अनर्थोंसे बच सकता है। फिर न तो जगत्में शान्ति-स्थापनके

लिये जेनेवामें अन्तर्राष्ट्रीय महासम्मेलनका खिलवाड़ करनेकी आवश्यकता रहती है और न निःशस्त्रीकरणके दम्भपूर्ण प्रस्तावोंकी ही! जननाशक शस्त्रोंका और ध्वंसकारी जड-विज्ञानका उपयोग आप-से-आप कम हो सकता है।

इस विवेचनसे कोई इस भ्रममें न पड़ जाय कि मैं कायरता-को ही क्षमा कहता हूँ या वीरताकी आवश्यकता ही नहीं है। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि क्षमा बलवानों और वीरोंका ही धर्म है, कमज़ोर और कापुरुषोंका नहीं! जो ज़रा-सा शब्द सुनते ही काँप उठते हैं, एक घूँसे या लाठीके भयसे भागकर घरोंमें घुस जाते हैं या स्त्रियोंका स्वांग सजकर भाग निकलते हैं, वे बेचारे क्या क्षमा कर सकते हैं? उनका हृदय तो सदा ही अनुतापकी आगसे जला करता है, ऐसे लोग क्षमाका मर्म कदापि नहीं समझते। क्षमा वही कर सकता है, जो बल-वीर्य-सम्पन्न है और जो अपराधीको दण्ड देनेमें सर्वथा समर्थ है। दिल तो जलता है, मन-ही-मन शाप देते हैं, परन्तु घरसे बाहर निकलनेका साहस नहीं! काम पड़नेपर सभाओंमें कहा जाता है कि हमने क्षमा कर दिया! यह तो क्षमाका उपहास है! क्षमा की थी अपने पुत्रोंको मार देनेवाले तपोधन विश्वामित्रपर महर्षि वशिष्ठजीने, जो सब तरहसे दण्ड देनेमें समर्थ थे, परन्तु वे इस बातको जानते थे कि मेरा, विश्वामित्रका और साथ-ही-साथ

समस्त जगत्का मंगल क्षमा करनेमें ही है। यदि वशिष्ठ महाराज कहीं विश्वामित्रसे बदला लेना चाहते और दोनों ओरसे अपने-अपने तपका प्रयोग किया जाता तो न मालूम जगत्की क्या स्थिति होती!

क्षमामें प्रतिहिंसाको कहीं स्थान नहीं रहता। जबतक हृदयके किसी भी कोनेमें प्रतिहिंसाका ज़रा-सा भी अंकुर छिपा रहता है तबतक क्षमाकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं होती और जबतक क्षमाकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं होती तबतक अनिष्टकी आशङ्का बनी ही रहती है!

एक मनुष्यने दूसरेको गाली दी, बदलेमें उसने दे दी। दोनों बराबर हो गये, यह प्रतिहिंसाका प्रत्यक्ष रूप है। परन्तु इसके कई सूक्ष्म या परोक्ष रूप भी हैं। बदलेमें गाली नहीं दी, डर गया या सभ्यताके अनुरोधसे वैसा नहीं किया परन्तु पुलिस-कोर्टमें फरियाद कर दी, इसमें प्रतिहिंसा ज्यों-की-त्यों रही। यद्यपि प्रतिहिंसा-साधनका यह तरीका पहलेसे कहीं अच्छा है। इसमें भी डरकर, पुलिसमें जानेकी अपेक्षा सभ्यताके लिहाजसे जाना और भी उत्तम है। बदलेमें गाली भी नहीं दी, पुलिसमें भी नहीं गया परन्तु उसके मुँहसे सहसा यह उद्गार निकल गया कि 'गाली देता है तो उसका मुँह गन्दा होता है, परमात्मा तो सब देखते हैं जो करेगा सो पावेगा। परमात्मा सबका न्याय करते हैं।'

इस उद्गारमें भी भय और शील दोनों ही कारण हो सकते हैं, दम्भ और अभिमान भी रह सकते हैं। यह भी प्रतिहिंसा-साधन-का एक तरीका है। भय, दम्भ या अभिमानकी अपेक्षा शीलसे प्रेरित होकर जो ऐसा करता है वह उत्तम है परन्तु इसमें भी प्रति-हिंसा तो रहती ही है। वह यहाँ फरियाद नहीं करता, परमात्माके दरवारमें कर देता है! इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमानकालमें इस भावके लोग भी वहुत ही कम पाये जाते हैं। परन्तु इससे भी अधिक सूक्ष्मरूपसे हृदयमें प्रतिहिंसा छिपी रहती है, जिसका पता समयपर लगता है। जब दो-चार या दस-वीस साल वाद उस गाली देनेवालेपर कोई विपत्ति आती है तब मुँहसे सहसा ऐसे शब्द निकल पड़ते हैं या तत्काल ही मनमें ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है कि 'चलो अच्छा हुआ! इसने अमुक समय मुझे गाली दी थी, देर तो वहुत हुई पर कियेका फल तो इसे मिल गया।' इस उद्गारका क्या अर्थ है? यही कि, वह उसको दण्ड भोगते हुए देखना चाहता था, नहीं तो यह भाव ही कैसे उत्पन्न होता? चाहे उसपर विपत्ति किसी भी कारणसे आयी हो परन्तु उसने तो उसका कारण अपनेको ही समझ लिया! वास्तवमें प्रति-हिंसाकी भावना अलक्ष्यरूपसे हृदयमें छिपी रहती है जो समयपर विकसित हो उठती है। वड़े-वड़े लोग इस प्रकारसे परोक्षमें प्रति-हिंसाका पोषण किया करते हैं। ऐसा क्यों होता है? केवल क्षमाके अभावसे। यह स्मरण रखना चाहिये कि वैरकी भावना केवल इसी

जीवनमें दुःखदायी नहीं होती परन्तु परलोकमें भी दुःख देती है, वैरकी वासनाको साथ रखकर मरनेवाला न मालूम कितने कालतक प्रेत योनिकी कठिन यन्त्रणाओंको भोगता है और स्थूल देहकी प्राप्तिके बाद भी न मालूम कितनी योनियोंमें उसे केवल वैरभावके कारण ही भटकना पड़ता है। क्षमा ही एक ऐसा साधन है जो इस दुःखसे मनुष्यको बचाता है, क्षमामें दुर्भावना और द्वेषका खाता चुकता कर दिया जाता है। यही तो अक्रोध और क्षमाका अन्तर है। अक्रोध निष्क्रिय साधन है और क्षमा सक्रिय। किसीके अपराधपर क्रोध न करना क्रियाको रोकना है, परन्तु इससे अपने मनपर जो दूसरेके अपराधको देखकर उसके प्रतीकार करनेकी एक कुत्सित छवि अङ्कित हो गयी थी वह नहीं मिटती। क्षमा इस विकृत छविको धो डालती है। क्षमाके सामने क्रोध, हिंसा, द्वेष या वैर नहीं टिक सकते। क्षमा ऐसी बढ़िया साबुन है जो हृदयकी इन सारी कालिमाओंको और उसके मलको धोकर उसे सर्वथा स्वच्छ और निर्मल बना देती है। अक्रोधमें क्रिया तो नहीं होती परन्तु मल रह जाता है जो समयपर दुःख भी पहुँचा सकता है।

एक महाजनके एक दूसरे मनुष्यमें एक हजार रुपये पावने हैं, वह आदमी रुपये नहीं देता, महाजनने अपनी सौजन्यतासे या पता लगाकर यह जान लेनेपर कि इसके पास रुपये नहीं हैं, उससे रुपयोंका तकाजा करना छोड़ दिया। वह उससे कभी

रुपये नहीं माँगता, कभी उसे किसी प्रकारसे तंग नहीं करता, परन्तु खातेमें रुपये उसके नाम ज्यों-के-त्यों लिखे हैं । महाजन अपने जीवनभर या जहाँतक उसका अधिकार रहता है, स्वयं उससे रुपये नहीं माँगता, परन्तु खातेमें नाम लिखे रहनेके कारण उसके उत्तराधिकारी उस मनुष्यसे रुपये माँग सकते हैं या उसपर नालिश करके रुपये वसूल कर सकते हैं । किन्तु यदि महाजन अपने हाथोंसे उन हजार रुपयोंको बट्टेखाते लिखकर उसका खाता चुकता कर दे तो फिर कोई कभी उससे रुपये नहीं माँग सकता । इसी प्रकार किसीके अपराध करनेपर उसपर क्रोध न करना रुपये न माँगनेके समान अक्रिय साधन है, परन्तु इससे उसका पिण्ड नहीं छूटता । पक्षान्तरमें क्षमा कर देनेपर वह अपराधसे सर्वथा मुक्त हो जाता है इसीलिये क्षमा सक्रिय साधन है और यही अक्रोध और क्षमाका भेद है । क्षमा करनेवाले महात्मा केवल अपराधको सहन ही नहीं करते, परन्तु अपराधीकी भलाई भी करते हैं । वे जानते हैं कि यह भूला हुआ है और भूले हुएको मार्ग बतलाना मार्ग जाननेवालोंका स्वाभाविक कर्तव्य है । वे ईश्वरसे उसको सुबुद्धि प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करते हैं ।

भक्तराज काकभुशुण्डिजीने किसी पूर्वके मनुष्य-जन्ममें एक बार गुरुका अपमान किया था । यह स्मरण रखना चाहिये कि गुरुजनोंका अपमान एक बड़ा अपराध है और गुरुजनोंकी सेवा

एक बड़ा पुण्य-कार्य है, गुरुजनोंके अपराधीको देवताओंसे अभिशाप और उनके सेवकको आशीर्वाद प्राप्त होता है। अतएव भगवान् शिवजी उसके द्वारा किये हुए गुरुके अपमानको सहन नहीं कर सके। यद्यपि वे शिवजीके भक्त थे, परन्तु गुरु-अपमानकी गुरुताका खयाल कर भगवान् शिवजीने उन्हें कठोर शाप दे दिया, भगवान् शिवजीने कहा—

यद्यपि तव गुरु रवल्प न क्रोधा। अति कृपालु चित सम्यक बोधा॥
तदपि शाप देहौं शठ तोहीं। नीति विरोध सुहात न मोहीं॥
जो नहिं करौं दण्ड शठ तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥
जे शठ गुरुसन ईर्षा करहीं। रौरव नरक कल्प शत परहीं॥
त्रियक योनि पुनि धरहिं शरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा॥
बैठि रहसि अजगर इव पापी। होहु सर्प खल मल मति व्यापी॥
महा विटप कोटरमहँ जाई। रहु रे अधम अधोगति पाई॥

(रामचरितमानस)

गुरु बड़े क्षमाशील थे, उन्हें ज़रा-सा भी क्रोध नहीं था, अपने अपमानका तो उन्हें कोई ध्यान ही नहीं था, परन्तु शिवजीके भयानक शापको सुनकर उनका चित्त बड़ा सन्तप्त हुआ, हृदय द्रवित हो गया, आँखोंसे आँसू बहने लगे। काकभुशुण्डिजीने श्रीगरुड़जीसे अपने पूर्व-जन्मकी कथा सुनाते हुए कहा है—

हाहाकार कीन्ह गुरु, सुनि दारुण शिव-शाप।
कम्पित मोहिं विलोकि अति, उर उपजा परिताप॥

करि दण्डवत सप्रेम गुरु, शिव सन्मुख कर जोरि।
बिनय करत गद्गद गिरा, समुझि घोर गति मोरि॥
(रामचरितमानस)

गुरुजी महाराज शिवजीका कठोर शाप सुनकर और मुझे काँपता हुआ देखकर हाहाकार करने लगे, उनके हृदयमें बड़ा खेद हुआ, मेरी बुरी गति समझकर वे सप्रेम शिवजीको दण्डवत्-प्रणामकर गद्गद-वाणीसे मेरेलिये विनय करने लगे।

कितना विशाल हृदय है! अपना अपमान करनेवालेको जब दण्ड मिलता है तब स्वाभाविक ही मनुष्यको कुछ सन्तोष-सा होता है परन्तु क्षमाशील अक्रोधी ब्राह्मण प्रसन्न नहीं होता वरं बड़ा दुखी होता है। आजकलकी प्रतिहिंसामयी संस्कृतिके वातावरणमें तो ऐसे महापुरुषोंको शायद मूर्खोंकी श्रेणीमें गिना जाय! परन्तु वास्तवमें यह भ्रम है। क्षमा सदा ही ऊँची है और ऊँची रहेगी। अवश्य ही उसका उपयोग उचित स्थान और समयपर ही होना चाहिये। दुर्बलचेता, अजितेन्द्रिय, क्षीणबल और हीनवीर्य पापात्मा लोग क्षमा नहीं कर सकते। वे लोग क्षमाके नामपर जो कुछ किया करते हैं वह या तो निरा ढोंग होता है या कायरताका निर्लज्जतापूर्ण अभिनय! परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दुर्बलचेता लोग क्षमाका आदर्श ही छोड़ दें, सबको चाहिये कि बल, वीर्य और संयमकी वृद्धि करते हुए क्षमाका आदर्श सदा-सर्वदा अपने सामने रक्खें।

एक समय महर्षि भृगु भगवान् शिव और ब्रह्माके समीपसे होते हुए वैकुण्ठमें भगवान् विष्णुके पास गये। भगवान् उस समय श्रीलक्ष्मीजीकी गोदमें मस्तक रक्खे लेट रहे थे। भृगुजीने जाते ही भगवान्के वक्षःस्थलपर जोरसे लात मारी, भगवान् उठे और भृगुजीके चरण पलोटते हुए बोले, 'महाराज! मेरी छाती बड़ी कठोर है, आपके अत्यन्त कोमल-चरणोंमें बड़ी चोट लगी होगी! भगवन्! मुझे क्षमा कीजिये, आपके चरण-चिह्नको मैं सदा आभूषणके समान हृदयमें रक्खूँगा।'

भृगुजी तो भगवान् विष्णुका यह व्यवहार देखकर दंग रह गये। भगवान् चाहते तो भृगुजीको कड़े-से-कड़ा दण्ड दे सकते थे परन्तु उन्होंने मुनिके पदकमल पलोटकर केवल भृगुजीके हृदयपर ही नहीं वरं जगत्के इतिहासपर एक ऐसी छाप लगा दी जो क्षमाको सर्वदा ऊँचा बनाये रक्खेगी।

लोग समझते हैं कि क्षमासे उद्दण्डता बढ़ जाती है, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्षमाका पूरा प्रयोग ही नहीं होता, प्रतिहिंसाकी वृत्तियाँ नाश ही नहीं हो पातीं, यदि कोई प्रति-हिंसाको सर्वथा त्यागकर अपने अपराधीके प्रति क्षमा करने लगे तो दो-चार बारके प्रयोगसे ही वह स्वयं लज्जित होकर सदाके लिये दब जायगा। क्षमाके बर्तावसे हृदयका उपकार और कृतज्ञतासे भर जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

क्षमाके बलपर ही भारतके महर्षियोंने विश्व-प्रेमका प्रचार किया था और इसीके बलपर वे अपना जीवन शान्ति और सुखके साथ बिता सकते थे।

भगवान् मनुने कहा है—

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।

'क्रोध करनेवालेपर क्रोध नहीं करना चाहिये, दुर्वचन कहनेवालेको भी आशीर्वाद देना चाहिये।'

नवद्वीपमें माधव नामक एक दुराचारीने प्रेममूर्ति श्रीनित्यानन्दजीपर प्रहार किया, उनके मस्तकसे रुधिर बहने लगा। श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुने उसे दण्ड देनेका विचार किया, पर नित्यानन्दजी रोने लगे, इसलिये नहीं कि महाप्रभु उसे शीघ्र दण्ड क्यों नहीं देते? इसलिये कि उसे दण्ड क्यों दिया जाता है? उन्होंने कहा—'प्रभो! इस भूले हुए जीवपर दया कीजिये और इसका उद्धार कीजिये।' श्रीनित्यानन्दजीके वचनोंसे महाप्रभुका कोप शान्त हो गया, माधव और उसके भाई जगन्नाथके हृदयपर प्रेमकी मुहर लग गयी, उनका जीवन बदल गया, दोनोंने पाप छोड़ दिये, श्रीमहाप्रभुके अनुग्रहसे दोनोंका उद्धार हो गया। यह है क्षमा! क्षमा द्वेषाग्निमें पानीका काम करती है और क्रोध या प्रतिहिंसा घृतका। अतएव प्रत्येक मनुष्यके लिये, कम-से-कम मुमुक्षुके लिये तो क्रोध और प्रतिहिंसाका त्याग और क्षमाका ग्रहण करना परम कर्तव्य है।

दम

मानव-धर्मका तीसरा लक्षण है दम । दमका साधारण अर्थ इन्द्रियदमन समझा जाता है परन्तु इस श्लोकमें भगवान् मनुने इन्द्रिय-निग्रहको अलग लिखा है, इसलिये यहाँ दमका अर्थ मनका निग्रह करना समझा जाता है । मन ही एक ऐसा पदार्थ है जो संतत जगत्के अस्तित्वको सिद्ध करता है और मायासे मोहित मनुष्यको विषयोंके प्रबल बन्धनमें बाँध देता है 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' स्वयं अनात्म और जड़ होनेपर भी बन्ध और मोक्ष इसीके अधीन है । मनपर विजय प्राप्त किये बिना जगत्का कोई भी कार्य सुचारुरूपसे सम्पादन नहीं किया जा सकता । जो मनको जीत लेता है वह अनायास ही जगत्को जीत लेता है, परन्तु मन है बड़ा चञ्चल और हठीला । अनन्त युगोंसे निरन्तर विषयोंमें रमण करते रहनेसे इसका स्वरूप विषयाकार बन रहा है । इसे निग्रह करनेके लिये दो ही उपाय शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं—'अभ्यास और वैराग्य'—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः

(योगदर्शन समाधिपाद १२)

अभ्यास और वैराग्यसे ही इसका निरोध होता है । यही बात भगवान्ने श्रीगीताजीमें कही है ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।

(गीता ६ । ३५)

मनरूपी नदीका प्रबल प्रवाह अविवेक और विषयरूपी पथपर बहता हुआ निरन्तर संसार-सागरमें पड़ रहा है । इस प्रवाहको इस मार्गसे हटाकर ईश्वराभिमुखी करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यरूपी उपाय करने चाहिये । वेगसे बहती हुई नदीके जलको व्यर्थतामें जानेसे बचानेके लिये आवश्यकता होती है नदीमें बाँध बाँधनेकी, परन्तु केवल बाँधसे ही काम नहीं चलता । बाँधसे प्रवाहका बढ़ना तो रुक सकता है, परन्तु उसका आना नहीं रुकता, पीछेसे ज़ोरका वेग आते ही या तो बाँध टूट जाता है या पानी बढ़कर नदी-तीरस्थ गाँवों और खेतोंको डुबा देता है । इसलिये बाँधके साथ-साथ नदीमें कुछ ऐसी नहरें और नाले निकालने चाहिये जिससे नदीमें आता हुआ जल आवश्यकतानुसार नहरों और नालोंमें बँटकर यथोचितरूपसे खेतोंमें जा सके । न तो केवल नहर निकालनेसे ही पूरा काम होता है, न केवल बाँध बाँधनेसे ही । नदीके सागराभिमुखी प्रवाहको रोककर उसे खेतोंमें यथायोग्य ले जानेके लिये बाँध और नाले दोनोंकी ही आवश्यकता होती है । इसी प्रकार चित्त-नदीके प्रवाहको संसारसे हटाकर परमात्माभिमुखी करनेके लिये वैराग्य और अभ्यास दोनोंकी ही समान आवश्यकता है ।

इस लोकके साधारण पदार्थसे लेकर ब्रह्मलोकतकके सुखोंमें दुःख-दोष देख-देखकर उनसे वृत्तियोंको रोकना वैराग्यका बाँध तैयार करना है और विषयोंसे हटती हुई कभी निकम्मी न होनेवाली चित्तकी वृत्तियोंको चारों ओरसे परमात्माके मननमें निरन्तर लगानेकी चेष्टा करना अभ्यासके नाले निकालना है। यों करते-करते जब चित्तकी वृत्तियाँ संसारके विषयोंमें क्रमशः रमणीयता, सुख, प्रेम और सत्ताका अभाव देखती हुई लुप्त हो जाती हैं और अभ्यास करते-करते जब परमात्माके सर्वत्र व्याप्त सम-स्वरूप भूमाका संसार-वासना और संसार-चिन्तासे शून्य शुद्ध चित्तमें दर्शन होता है, तभी साधक परमात्माको पानेका अधिकारी होता है। बस, इसके अनन्तर ही उस अविचल नित्यानन्दस्वरूप परमपदकी प्राप्ति होती है और उसे पाकर वह कृतार्थ हो जाता है, परन्तु यदि कोई मनको वशमें किये बिना ही भव-बन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करना चाहे तो उसकी भूल है। भगवान्‌ने कहा है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६ । ३६)

'जिसका मन वशमें नहीं है, उसके लिये परमात्माकी प्राप्तिरूप योगका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है।

परन्तु मनको वशमें करनेवाले प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।'

इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले प्रत्येक साधकको वैराग्य और अभ्यासके द्वारा मनको वशमें करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह तो हुई परमार्थके मार्गकी बात, परन्तु संसारके कार्योंमें सिद्धि लाभ करनेके लिये भी मनको वशमें करनेकी बड़ी आवश्यकता है। चञ्चल मनवाले मनुष्यका किसी भी कार्यमें सिद्धि प्राप्त करना कठिन है।*

---

* इस विषयकी 'मनको वशमें करनेके कुछ उपाय' नामक पुस्तिका प्रत्येक साधकको मँगवाकर पढ़नी चाहिये और उसमें बतलाये हुए महात्माओंद्वारा अनुभूत उपायोंको अपने-अपने अधिकारके अनुसार काममें लाना चाहिये, ऐसा करनेसे बहुत कुछ लाभ होनेकी सम्भावना है।

अस्तेय

(चोरीका अभाव)

मानव-धर्मका चौथा लक्षण है 'अस्तेय'। चोरीके अभावको अस्तेय कहते हैं। दूसरेके स्वत्व (हक) का ग्रहण करना चोरी कहलाती है। चोरी अनेक प्रकारसे होती है, किसीकी वस्तुको उठा लेना, वाणीसे छिपाना, बोलकर चोरी करवाना, मनसे परायी वस्तुको ताकना आदि सब चोरीके ही रूप हैं। स्थूल चोरीका स्वरूप तो किसीकी चीज उसकी बिना जानकारीके ले लेना ही है। ऐसे चोरोंके लिये दण्डका विधान भी है। परन्तु सभ्यताकी आड़में, कानूनसे बचकर आजकल कितनी अधिक चोरियाँ होती हैं, यदि उनका हिसाब देखा जाय तो पता लगता है कि शायद समाजकी प्रगति चोरीकी ओर बड़े वेगसे बढ़ रही है। जितने ही अधिक कानून बनते हैं, उतनी ही चोरीकी नयी-नयी क्रियाओंका आविष्कार होता है। आज बड़े-बड़े राष्ट्र एक दूसरेका स्वत्वापहरण करनेके लिये पक्के चोरकी भाँति अपनी-अपनी कुशलताको काममें ला रहे हैं। सभ्यतासे ढकी हुई चोरियाँ बड़ी भयानक होती हैं और उन्हींकी संख्या आजकल बढ़ रही है। अङ्गरेजोंके शासनाधीन होनेके बाद जहाँ भारतवर्षमें स्थूल डकैतियोंकी संख्या घटी है, वहाँ सभ्यताकी आड़में होनेवाली चतुराईकी डकैतियाँ और चोरियाँ उतनी ही

अधिक बढ़ी हैं। पहलेके जमानेमें चोरोंका एक भिन्न समुदाय था, जो घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता था, परन्तु इस समय संक्रामक बीमारीकी तरह प्रायः सारा समाज इस दोषसे आक्रान्त हो चला है। छोटे-छोटे गाँवोंमें भी चतुराईकी चोरियाँ प्रारम्भ हो गयी हैं। यह बहुत बुरे लक्षण हैं। आज बड़े-बड़े लोगोंमें इसका प्रवेश देखनेमें आता है। मामूली चोरियाँ पकड़ी जाती हैं, चोरोंको दण्ड भी मिलता है, परन्तु ये बारीक चोरियाँ प्रायः पकड़ी नहीं जातीं, ये चोरियाँ तो चतुराई और होशियारीके नामसे पुकारी जाती हैं। समाज ऐसे चोरोंको धिक्कार नहीं देता बल्कि जो जितनी अधिक आसानीसे दूसरेका हक हड़प कर सकता है, वह उतना ही अधिक चतुर और बुद्धिमान् समझा जाता है। न्यायालयतक ऐसे चोरोंको प्रथम तो जाना ही नहीं पड़ता, यदि किसी पापके खुल जानेपर उसे कहीं अदालततक जानेकी नौबत आती है तो वहाँ धनके बल और कानूनी दाव-पेचोंसे उसका छूट जाना प्रायः सहज समझा जाता है।

व्यापारियोंमें तो ऐसी चोरीका नाम 'रस-कस' है। दूसरे विभागोंमें यह 'ऊपरकी पैदा' या 'चतुराईकी उपज' कहलाती है। इन पंक्तियोंका लेखक स्वयं व्यापार करता था, इसलिये उसे व्यापारियोंकी चोरीका विशेष अनुभव है, अतएव यहाँपर व्यापारियोंकी इस 'रस-कस' रूपी चोरीके तरीकोंकी संक्षिप्त सूची उपस्थित की जाती है।

१–अपनी स्थितिका झूठा रोब जमाकर लोगोंको धोखा देना।

२- घटिया मालको बढ़िया बतलाकर बेचना।

३–नमूना एक दिखलाकर माल दूसरा देना। बढ़िया नमूना बतलाकर माल घटिया देना।

४–घटिया मालका भाव करके बेचनेवालेसे छिपाकर चालाकीसे बढ़िया ले लेना या बढ़ियाका भाव करके खरीददारको घटिया देना।

५–खरीददारको चालाकीसे वजनमें कम तौलना और बेचनेवालेसे चालाकी करके अधिक तुलवाना।

६–इसी तरह नापमें कम देना और अधिक लेना।

७–एक चीजको दूसरी बतलाकर बेचना।

८–आढ़त-दलालीमें चालाकीसे छिपाकर कम देना या अधिक लेना।

९–आढ़तियेके लिये खरीदे हुए या बेचे हुए मालका भाव कुछ बढ़ाकर या घटाकर उसे लिखना।

१०–झूठा बीजक बनाना या जहाँ मुनाफेकी बोलीपर माल बेचा जाता है वहाँ आढ़तियेको लिखकर झूठा बीजक बनवाकर मँगाना।

११–व्यापारी संस्थाओंके माने हुए नियमोंको चालाकीसे भंग करना।

१२—सस्ता समझकर चोरीके मालको खरीदना।

१३—अपवित्रको पवित्र कहकर या एक चीजमें दूसरी चीज मिलाकर बेचना।

१४—दूसरोंका उदाहरण देकर चालाकीसे ग्राहकको धोखेमें डालना।

१५—जबान पलट जाना या छिपाकर उसका दूसरा रूप बतलाना।

१६—झूठे समाचार गढ़कर लोगोंको धोखेमें डालना।

१७—तेजी-मन्दीके तारोंको छिपाकर सस्तेमें माल ले लेना या महँगेमें बेच देना।

१८—रुपये कम देकर अधिकके लिये रसीद लिखवाना।

१९—किसानोंको फुसलाकर और धमकाकर दस्तावेज करवा लेना।

२०—चालाकीसे दूसरेको मूर्ख बनाकर बात बदल देना।

सूची तो बहुत बड़ी बन सकती है, यह तो कुछ प्रधान-प्रधान बातें हैं। ये चोरियाँ दिन दहाड़े बाजारोंमें बैठ-बैठकर 'रस-कस' के नामपर की जाती हैं। कई लोग तो व्यापारमें इस प्रकारकी कुछ चालाकियोंका रहना आवश्यक मानते हैं। उनकी समझमें इनके अभावसे व्यापारमें सफलता प्राप्त करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। जो बेचारे धर्म-भयसे इन कामोंको

नहीं कर सकते वे व्यापारी-जगत्में अयोग्य और अनभिज्ञ समझे जाते हैं। कितना भयानक पतन है!

बड़े दुःखका विषय है कि यदि हमारे यहाँ एक नौकर तरकारी खरीदकर लानेमें दो पैसेकी चोरी कर लेता है तो उसे हम पुलिसके हवाले करना चाहते हैं, परन्तु हम स्वयं दिनभर एकके बाद दूसरी चोरीकी लगातार आवृत्ति करते रहते हैं जिनका कोई हिसाब नहीं।

बाजारमें बैठकर लम्बी-चौड़ी बातें करना और नामके लिये विपुल धनराशिमेंसे थोड़ा-सा धन दान कर देना ही धर्मका लक्षण नहीं है। जहाँतक ये चोरीकी आदतें नहीं छूटतीं वहाँ-तक हम परमात्मासे बड़ी दूर हैं। चोरीसे लाखोंकी सम्पत्तिका संग्रहकर उसमेंसे थोड़ा-सा हिस्सा धर्मखाते जमा कर लेने या किसीको दे देनेसे पापसे छुटकारा नहीं मिल सकता। एक मारवाड़ी कविने कहा है—

> ऐरणकी चोरी करै, करै सुईको दान।
> चढ़ चौबारे देखण लाग्यो, कद आसी विमान॥

बहुतसे लोहेसे बने हुए धनकी चोरी करके बदलेमें जरासे लोहेकी एक सुईका दान करके जो ऊपर चढ़कर अपने लिये स्वर्गके विमानकी प्रतीक्षा करता है वह जैसा हास्यास्पद है वैसा ही वह है जो दिनभर चोरी करके बदलेमें जरा-सा धन देकर पापोंसे मुक्त होनेकी आशा करता है।

व्यापारी-समाजको चाहिये कि अपनी छातीपर हाथ धर-कर अपनी चोरियोंको देखे और उन्हें छोड़नेका प्रयत्न करे।

व्यापारी-समाजकी तरह अन्यान्य समाजोंमें भी खूब चोरियाँ होती हैं। पुलिस-विभाग—जो चोरोंसे समाजकी रक्षा करनेके लिये बना है—रिश्वतखोरीके लिये प्रसिद्ध है। पुलिस-विभागके एक अवसर-प्राप्त सज्जनने मुझसे कहा था कि जब कोई नया आदमी इस विभागमें भर्ती होता है तब वह पहलेसे ही इस बातको सोच लेता है कि मेरा बीस रुपयेका वेतन है तो दस रुपये ऊपरके होंगे। रुपया रोज पड़ जायगा। इस 'ऊपरके' का अर्थ घूँस या चोरी ही है। रेलवे कर्मचारियोंके साथ मिलकर बड़े-बड़े व्यापारी और सभ्यताभिमानी लोग भाड़ा चुकानेमें चोरी करते हैं और इसको चतुराई समझते हैं। बड़े बड़े मिल-मालिक लोग सवाई-ड्योढ़ी कांजी देकर कपड़ेका वजन बढ़ाते हैं। बड़े-बड़े वकील-बैरिष्टर अपने मवक्किलोंको कोर्टसे बचनेके लिये तरह-तरहकी सलाह दिया करते हैं जो चोरीका ही रूपान्तर होता है। अनेक धर्मोपदेशक और समाज-सुधारक शास्त्रोंके यथार्थ अर्थको छिपाकर मत-प्रचार या स्वार्थ-सिद्धिके लिये विपरीत अर्थ करते देखे जाते हैं। डाक्टर-वैद्योंकी सभ्यताके परदेमें होनेवाली चोरियोंका बहुतोंको अनुभव है। कला और साहित्य-संसारमें भी दिन दहाड़े चोरियाँ होती हैं। सारांश यह कि आजकल प्रायः

सभीमें यह पाप फैल गया है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इस समय प्राय: ऐसी ही स्थिति हो रही है। ऐसे बहुत थोड़े असली भाग्यवान् जन हैं जो इन कर्मोंको पाप समझकर इनसे सर्वथा बचे हुए हैं।

बहुतसे लोग तो इनको पाप ही नहीं समझते। कुछ लोग पाप तो समझते हैं परन्तु कुसंगतिमें पड़कर, लोभसे या परिस्थितिसे बाध्य होकर ऐसे कर्म कर बैठते हैं। उन्हें पश्चात्ताप तो होता है, परन्तु वे अपनी कमजोरीसे बच नहीं सकते।

समाजकी इस बुरी परिस्थितिके लिये हम सभी उत्तरदाता हैं। समाजमें फजूलखर्ची, देन-लेनकी प्रथा और विलासिता बहुत बढ़ गयी। अपनी इज्जत बचाये रखनेके लिये एककी देखा-देखी दूसरेको भी अवसरपर उतना ही खर्च करना पड़ता है। पैसे पास होते नहीं, ऐसी अवस्थामें यदि कहींसे मिल जाते हैं तब तो ठीक, नहीं तो उसे किसी-न-किसी प्रकार चोरी करनी पड़ती है। ऋण हो जाता है तो उसको चुकानेके लिये भी यही उपाय सूझता है। समाजके दोषोंसे सब कुछ महँगा हो गया। २०) ३०) रुपये मासिक वेतनका आदमी शहरमें रहकर बड़े कुटुम्बका पालन नहीं कर सकता, उसे भी चोरी करनी पड़ती है अवश्य ही इन कर्मोंका समर्थन तो किसी भी अवस्थामें नहीं किया जा सकता। चोरी करनेकी अपेक्षा भूखके मारे मर जाना अच्छा

है। परन्तु यह बात कहनेमें जितनी सहज है, परिस्थितिमें पड़ने-पर पालन करनेमें उतनी ही कठिन है। समाजके धनी, मानी और अगुआ लोगोंको चाहिये कि वे लोगोंको इस पापसे मुक्त करनेके लिये आगे होकर फजूलखर्ची बन्द करें, विलासिताका त्याग करें, लोगोंके सामने ऐसा आदर्श रक्खें कि जिससे कम खर्च करनेमें किसीको लज्जा या संकोच न हो। बड़े-बड़े धर्माचार्य, उपदेशक, नेता, देश-भक्त, धनी, व्यवसायी, मुनीम, सेवक, सरकारी कर्मचारी, रेलवे कर्मचारी आदि सभीको इन चोरियोंसे बचकर सर्वसाधारणको यह बतला देना चाहिये कि चतुराईके नामपर परस्वापहरणकी जो कुछ चेष्टा होती है सो सब पाप है। जब लोग इस चतुराईको पाप समझने लगेंगे तब स्वयं इनसे हटेंगे। किसीके भी हककी किसी प्रकारसे भी हरण करनेकी इच्छा, चेष्टा या क्रिया नहीं होनी चाहिये। इसीका नाम अस्तेय है।

शौच

मानव-धर्मका पाँचवाँ लक्षण शौच है। शौच कहते हैं पवित्रताको। पवित्रता साधारणतः दो प्रकारकी होती है, बाहरकी और भीतरकी। दोनों ही आवश्यक हैं। बाह्य शौचसे शरीरकी पवित्रता बनी रहती है, दूसरोंके रोग तथा पापोंके परमाणु सहसा अपने अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते एवम् आन्तरशौचसे मन पवित्र होकर परमात्माका साक्षात्कार करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। मनुष्य-जीवनका लक्ष्य है 'भगवत्प्राप्ति'। इसी उद्देश्यको सामने रखकर भारतके त्रिकालदर्शी ऋषि-मुनियोंने धर्मशास्त्रोंकी ऐसी रचना की थी कि जिससे मनुष्यकी प्रत्येक क्रिया नदीके सागराभिमुखी प्रवाहकी तरह स्वाभाविक ही भगवदाभिमुखी हो। आज हम न तो प्रायः शास्त्रोंको मानते हैं और न हमारी शास्त्र-वचनोंमें श्रद्धा ही है। कई तो स्पष्टरूपसे शास्त्रोंका विरोध करते हैं और शास्त्रकारोंपर अनर्गल आक्षेप करते हैं। कुछ लोग जो अपनेको शास्त्रका अनुयायी बतलाते हैं, वे भी प्रायः मनमाना अर्थ गढ़कर शास्त्रोंको अपने मतके अनुकूल ही बनाना चाहते हैं। इसीलिये इतनी विश्रृंङ्खलता हो रही है, इसीलिये भारत सुख, समृद्धि, स्वतन्त्रता और नीरोगतासे वञ्चित होकर परमुखापेक्षी और दुःखित हो रहा है तथा इसीलिये आज यह ब्रह्मनिष्ठ त्यागी महात्माओंकी प्रिय आवासभूमि—ब्रह्मानन्दरसपूर्ण विकसित पुष्पोंकी यह प्राचीन सुरम्य-वाटिका मुरझाई और सूखी हुई-सी प्रतीत होती है।

शरीरकी शुद्धि

शरीरकी शुद्धि भी दो प्रकारकी होती है। एक बाहरी और दूसरी भीतरी। अस्पृश्य पदार्थोंका स्पर्श न करना, जल-मृत्तिका और गोमय आदिसे शरीरका स्वच्छ रखना बाहरी शुद्धि है और न्यायोपार्जित पवित्र पदार्थोंके भक्षणसे शरीरके साधक रस-रुधिरादि सप्त धातुओंका शुद्ध रखना भीतरी पवित्रता है। आजकल इस विषयमें प्रायः अवहेलना की जाती है। शरीरकी शुद्धिको अधिकांश लोग अन्याय, अव्यवहार्य, व्यर्थ और आडम्बर समझते हैं। अस्पृश्यतासम्बन्धी न्यायानुमोदित शास्त्रोक्त बातें तो सुनना ही नहीं चाहते। किसी भी समय, किसी भी पदार्थके स्पर्श करने तथा परस्पर परमाणुओंके आदान-प्रदान करनेमें कोई हानि नहीं समझते। गर्भ-कालमें माताके देखे सुने और स्पर्श किये हुए पदार्थोंके परमाणु गर्भके अन्दर बालकपर अपना प्रभाव डालते हैं, यह बात प्रायः सभीको स्वीकार है परन्तु बिना किसी रुकावटके एक दूसरेके स्पर्शमें और खानपानमें कुछ भी पंक्तिभेद न रखनेमें उन्हें कोई दोष नहीं दीखता। कई लोग तो ऐसा करनेमें उल्टा गौरव समझते हैं। समयकी बलिहारी है!

गोमय और मृत्तिका आदिसे शरीरको धोना, पोंछना तो धीरे-धीरे असभ्यता और जंगलीपन माना जाने लगा है। पशुओंकी चर्बीसे बनी हुई साबुन लगानेमें तथा सुगन्धित द्रव्योंके नामसे

शरीरपर विदेशी मदिरा लेपन करनेमें कोई हानि नहीं समझी जाती, परन्तु मिट्टीके नामसे ही बाबुओंकी नाक-भौं सिकुड़ने लगती है। कारण स्पष्ट है। लोगोंमें ऊपरसे सुन्दर सजनेका जितना खयाल है उतना वास्तविक पवित्रताका नहीं। इसीलिये साबुन आदिके बुरे परमाणु जो शरीरके अन्दर जाते हैं उनकी कोई परवा नहीं की जाती। जलशुद्धिका विचार प्रायः छूट ही गया है। स्पर्शास्पर्शका विचार रखना अन्याय और अव्यवहार्य तथा जल-मृत्तिकाका व्यवहार व्यर्थ और आडम्बर माना जाता है। यह तो शारीरिक बाह्यशुद्धिकी बातें हैं। अब रही--

शरीरकी आन्तरिक शुद्धि

जो प्रधानतः आहारकी शुद्धिसे ही होती है। परन्तु इस तरफ तो आजकल लोगोंका बहुत ही कम खयाल है। देशमें खासकर बड़े शहरोंमें ऐसा द्रव्य बहुत कठिनतासे मिल सकता है जो सर्वथा न्यायोपार्जित हो। धनोपार्जनमें न्यायान्यायका विचार प्रायः छोड़ दिया गया है। असत्य और चोरीका व्यवहार बड़े-बड़े व्यापारिक समुदायमें आवश्यक साधन-सा माना जाने लगा है। इतना अधःपतन हो गया है कि लाखों-करोड़ोंकी सम्पत्ति होनेपर भी व्यापारमें दस-पाँच रुपयेकी आमदनीके लिये लोग अन्यायका आश्रय ले लेते हैं। पाप-पुण्यका विचार करनेकी मानो आवश्यकता ही नहीं रही। प्राचीनकालमें साधुलोग सुनारोंका

अन्न प्रायः नहीं खाते थे। लोगोंकी ऐसी धारणा थी कि सुनारोंके यहाँ सोने-चाँदीकी कुछ चोरी हुआ करती है, यद्यपि सभी सुनार ऐसे नहीं होते थे। परन्तु आजकल तो ऐसी कोई जाति ही नहीं देखनेमें आती जो धन कमानेमें पापका आश्रय सर्वथा न लेती हो। कुछ व्यक्ति बचे हुए हों तो दूसरी बात है। इस प्रकार जब धन ही अन्यायोपार्जित है तब उसके द्वारा खरीदे हुए अन्नमें पवित्रता कहाँसे आ सकती है? जिस प्रकारका अन्न भक्षण किया जाता है प्रायः उसी प्रकारका मन बनता है और जैसा मन होता है वैसी ही क्रियाएँ होती हैं। यों उत्तरोत्तर पापका प्रवाह बढ़ता चला जाता है। इसीलिये आर्य ऋषियोंने आहारकी शुद्धिपर विशेष ज़ोर दिया है।

आहारकी शुद्धिमें–

केवल यही नहीं देखना चाहिये कि भोजन कैसे स्थानपर और किसके हाथका बना हुआ है। यद्यपि भोजन पवित्र स्थानमें पवित्र मनुष्यके द्वारा पवित्रताके साथ पवित्र सामग्रियोंसे बनना चाहिये, परन्तु इनमें सबसे अधिक आवश्यकता है अन्नशुद्धिकी। न्यायान्यायके विचारसे रहित करोड़ों रुपयेके व्यापार करनेवाले बड़े-से-बड़े प्रसिद्ध पुरुषके द्रव्यसे पवित्र चौकेकी सीमाके अन्दर ब्राह्मणके हाथसे बना हुआ भोजन उस भोजनकी अपेक्षा सर्वथा निकृष्ट है जो एक गरीब मेहनती सच्चे मजदूरके द्रव्यसे बनता

है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि ऐसे पवित्र-हृदयका मनुष्य यदि नीच वर्णका हो तो उसके यहाँ उच्च वर्णका पुरुष शास्त्र-मर्यादाको भंग कर उसके साथ उसके हाथसे ही खावे। ऐसे पवित्र पुरुष तो ऐसा आग्रह ही नहीं रखते कि लोग हमारे हाथका बनाया हुआ खायँ। अतएव सबसे अधिक ध्यान इस विषयपर देना चाहिये कि जिससे द्रव्य शुद्ध रहे। अशुद्ध द्रव्य उपार्जन करनेवाला अपना अनिष्ट तो करता ही है साथ ही वह घर, परिवार और अतिथिवर्गके मनोंमें भी अपवित्र भावोंकी उत्पत्तिका कारण बनता है।

आजकल भोजनकी सामग्रियोंमें अभक्ष्य और अपेय पदार्थोंका समावेश भी बढ़ रहा है। अंगरेजोंके संसर्ग और अंगरेजी शिक्षाके अधिक विस्तारसे खानपानके पदार्थोंमें रुकावट बहुत कम हो चली है। इस मर्यादानाशका परिणाम बहुत ही बुरा दीखता है। अतएव सबको सावधान हो जाना चाहिये। शारीरिक शुद्धिका विधान शास्त्रोंमें बड़े विस्तारसे है इसीलिये यहाँ उसकी पूरी विधि नहीं लिखी गयी है।

भीतरकी पवित्रता अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि

महानिर्वाणतन्त्रमें कहा है—

ब्रह्मण्यात्मार्पणं यत्तत् शौचमान्तरिकं स्मृतम्॥

आत्माको ब्रह्ममें अर्पण करना ही आन्तरिक शौच है, वास्तवमें जबतक इस हाड़-मांसके शरीरमें अहंबुद्धि रहती है तब-

तक शौचकी सिद्धि नहीं हो सकती। शरीरको कोई चाहे जितना भी धो-पोंछकर रक्खे परन्तु वह बना ही ऐसे पदार्थोंसे है जो सर्वथा अपवित्र हैं। रक्त, मज्जा, मेद, मांस, अस्थि, वीर्य, कफ, पसीना, थूक, गीड़ आदिमें कौन-सा ऐसा पदार्थ है जो शुद्ध हो? चमड़ेकी थैलीमें भरे हुए इन अपवित्र पदार्थोंके समूहको जो अपना रूप मानता है, वह तो सर्वदा ही अशुचि है। सुन्दर सुगन्धित और रुचिकर पदार्थ भी जिस शरीरमें प्रवेश करनेके साथ ही अपवित्र, असुन्दर, घृणित और दुर्गन्धयुक्त बन जाते हैं, बढ़िया-से-बढ़िया पकान्न जिसके अन्दर जाकर थोड़े ही समयमें विष्ठाके रूपमें परिणत हो जाता है ऐसे अपवित्र शरीरमें अहंबुद्धि करनेवाले वास्तवमें कभी शुद्ध नहीं हो सकते! बाहरी और भीतरी शुद्धिके द्वारा जब अपने शरीर और उसीके साथ-साथ दूसरे शरीरोंमें वैराग्य तथा मनमें प्रसन्नता और प्रकाशका प्रादुर्भाव होता है तब कहीं आत्मसाक्षात्कारकी कुछ योग्यता प्राप्त होती है। महाराज पतञ्जलिने शौचका फल बताया है—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सापरैरसंसर्गः

(योगद० पाद २ सूत्र ४०)

शौचकी स्थिरतासे अपने शरीरमें घृणा और दूसरेमें संसर्गका अभाव होता है। शरीरको शुद्ध करनेकी इच्छा इसको अशुद्ध देखकर होती है परन्तु शरीरकी अशुद्धि तो कभी मिट ही नहीं

सकती । बारम्बार बाह्य शौचका अभ्यास करते-करते शरीरके अपवित्र होनेका दोष प्रत्यक्ष हो जाता है तब उसमें घृणा उत्पन्न होती है, जब अपना ही बार-बार धोया-पोंछा हुआ शरीर उसे शुद्ध नहीं प्रतीत होता तब दूसरोंके मैले-कुचैले शरीरोंसे उसका संसर्ग स्वयं ही छूट जाता है । यह बाह्य शौचका फल है । इसके पश्चात् पतञ्जलि महाराज आन्तरशौचकी शुद्धि बतलाते हुए कहते हैं—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।

(योगद० पाद २ सूत्र ४१)

शौचकी स्थिरतासे सत्त्वशुद्धि, प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों-पर विजय और आत्मसाक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है ।

आन्तरशुद्धिके साधनोंसे जब अन्तःकरणके रागद्वेषादि मल कुछ धुल जाते हैं तब रज और तमकी न्यूनतासे सत्त्व प्रबल हो उठता है । चित्त निर्मल हो जाता है । निर्मलतासे प्रसन्नता होती है । प्रसन्नतासे विक्षेपोंका अभाव होकर एकाग्रता आती है । एकाग्र होनेपर मन अपनी अधीनस्थ इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार जब मन भलीभाँति पवित्र और सूक्ष्म वस्तुके ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाता है तब उसमें आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त हो जाती है । यही शौचका शुभ परिणाम है । पूर्वकालमें शौचका अनुष्ठान किया जाता था केवल इसी फलके

लिये। आजकलकी तरह साबुन-तैलसे साफ-सुथरे और चिकने-चुपड़े होकर अपना सौन्दर्य बनाने या अनेक बार अनावश्यक रूपसे घड़े-के-घड़े जलसे स्नानकर अपनेको पवित्र और आचार-सम्पन्न सिद्ध करनेके लिये नहीं! स्मरण रखना चाहिये कि बाह्य भावोंसे आभ्यन्तरिक भावोंका मूल्य सदा ही अधिक है।

एक मनुष्य दिनमें बार-बार सेरों मिट्टीसे हाथ-पैर धोता और अनेक बार नहाता है, परन्तु जिसके मनमें घृणा, द्वेष, हिंसा, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, स्तेय और व्यभिचार आदि मैले पदार्थ भरे पड़े हैं वह, उस पुरुषकी अपेक्षा सर्वथा निकृष्ट है जो केवल जलमृत्तिकाके प्रयोगमें ही शुद्धिकी इतिश्री नहीं समझता परन्तु निरन्तर आत्मनिरीक्षण करता हुआ बड़ी सावधानीसे अपने अन्तरके मलोंको धोकर अन्तःकरणको स्वच्छ रखता है। कहा है—

आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदकं शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा॥

'हे पाण्डुपुत्र! संयम जिसके पुण्य तीर्थ हों, जिसमें सत्यरूपी जल भरा हो, शीलरूपी जिसके घाट हों और दयाकी जिसमें लहरें उठती हों, ऐसी आत्मारूपी नदीमें नहाकर तू पवित्र हो, अन्तरात्माको जल शुद्ध नहीं कर सकता।' अतएव मनकी शुद्धि चाहनेवाले पुरुषोंको निरन्तर आत्मविचार, इन्द्रियसंयम, सत्य, शील और दया आदि गुणोंका अनुशीलन करना चाहिये।

पतञ्जलि भगवान्‌के बताये हुए मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि साधनोंके यथोचित प्रयोगसे भी आत्मशुद्धिमें बड़ी सहायता मिलती है ।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।
(योग० पाद १ सूत्र ३३)

सुखी मनुष्योंसे प्रेम, दुखियोंके प्रति दया, पुण्यात्माओंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उदासीनताकी भावनासे चित्त प्रसन्न होता है ।

(क) जगत्‌के सारे सुखी जीवोंके साथ प्रेम करनेसे चित्तका ईर्ष्या-मल दूर होता है । डाहकी आग बुझ जाती है, संसारमें लोग अपनेको और अपने आत्मीय स्वजनोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे उन लोगोंको अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं । यदि यही प्रिय भाव सारे संसारके सुखियोंके प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने आनन्दका कारण हो ! दूसरेको सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्तिका नाश ही हो जाय ।

(ख) दुखी प्राणियोंके प्रति दया करनेसे पर-अपकाररूप चित्तका मल नष्ट होता है । मनुष्य जैसे अपने कष्टोंको दूर करनेके लिये किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं समझता

भविष्यमें कष्ट आनेकी सम्भावना होते ही पहिलेसे उसे निवारण करनेकी चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत्‌के सारे दुःखी जीवोंके साथ हो जाय तो कितने ही लोगोंका दुःख दूर हो सकता है। दुःख-पीड़ित लोगोंके दुःख दूर करनेके लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देनेकी प्रबल भावनासे मन सदा प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकोंको देखकर हर्षित होनेसे दोषारोप नामक असूया मल नष्ट होता है। साथ ही धार्मिक पुरुषकी भाँति चित्तमें धार्मिक वृत्ति जागृत हो उठती है। असूयाके नाशसे चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियोंके प्रति उपेक्षा करनेसे चित्तका क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापोंका चिन्तन न होनेसे उनके संस्कार अन्तः-करणपर नहीं पड़ते। किसीसे भी घृणा नहीं होती, इससे चित्त शान्त रहता है।

इस प्रकार इन चारों साधनोंसे अन्तःकरणकी बड़ी शुद्धि होती है। उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि मोक्षधर्मी मनुष्यके लिये शौच एक परम आवश्यक धर्म है और उसका पूरा प्रयोग करनेके लिये बाह्य और आन्तर दोनों प्रकारके साधनोंको काममें लाना चाहिये। सब प्रकारके शौच सामान्यतः पाँच भागोंमें बाँटे जा सकते हैं।

मनःशौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।
शरीरशौचं वाक्यशौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम् ॥

मनकी पवित्रता, कर्मोंकी पवित्रता, कुलकी पवित्रता, शरीरकी पवित्रता और वाणीकी पवित्रता। यह पाँच प्रकारकी पवित्रता कही गयी है।

(१) अभिमान, वैर, द्वेष, हिंसा, दम्भ, काम, क्रोध, लोभ और ईर्षा आदिसे मन अपवित्र होता है इसलिये यथासाध्य इन दुर्गुणोंको मनसे सदा निकालते रहना चाहिये।

(२) कामना, द्वेष, दम्भ, लोभ और अभिमान आदिके कारण जो शास्त्रविरुद्ध कर्म होते हैं वे कर्म अपवित्र कहलाते हैं अतएव भगवत्-अर्पण-बुद्धिसे और लोक-सेवाके विशुद्धभावसे शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये।

(३) व्यभिचार आदिसे संकरता उत्पन्न होने और पारस्परिक मर्यादाका नाश होनेपर कुल अपवित्र होता है अतएव कुलको वर्णसंकरतासे बचाना और यथायोग्य बर्ताव कर मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिये।

(४) अस्पृश्य पदार्थोंके स्पर्श, मृतकादि अशौच और मल-मूत्र आदिके त्याग करनेपर शरीर अपवित्र होता है अतएव मिट्टी-जल और स्नान-आचमन आदिसे शरीरको पवित्र रखना चाहिये।

(५) असत्य, कड़वे, दूसरोंकी निन्दा या अपनी प्रशंसासे भरे और व्यर्थके वचनोंसे वाणी अपवित्र होती है अतएव सदा-सर्वदा अविकारी, सत्य, मधुर और हितकर वचन बोलने चाहिये।

शौचका एक सर्वोत्तम उपाय और है। वह है हार्दिक प्रेमके साथ श्रीभगवान्‌के पवित्र नामका सतत स्मरण करना। शास्त्रकी अन्यान्य विधियोंका पालन करनेके साथ-ही-साथ मन लगाकर श्रीभगवान्‌का जप, कीर्तन और स्मरण अवश्य करना चाहिये। यह श्लोक प्रसिद्ध है—

> अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
> यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

इन्द्रियनिग्रह

मानव-धर्मका छठा लक्षण इन्द्रियनिग्रह है । इन्द्रियोंको किसी भी बुरे विषयकी ओर न जाने देना और सदा उनको अपने वशमें रखकर कल्याणकारी विषयोंमें लगाये रखना इन्द्रियनिग्रह कहलाता है । मनु महाराज कहते हैं—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

(म० २ । ९३)

'इन्द्रियोंके विषयोंमें लगानेसे मनुष्य निस्सन्देह दोषको प्राप्त होता है परन्तु उन्हीं इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें कर लेनेसे उसे परमसिद्धिकी प्राप्ति हो सकती है ।' जो इन्द्रियोंके वशमें रहता है वह स्वयं भी अनेक प्रकारके पापोंमें फँसकर भाँति-भाँतिके दुःख उठाता है और दूसरोंको भी दुःख देता है। स्वयं सदा भयभीत रहता है और दूसरे लोग भी हिंसक जन्तुकी भाँति उससे डरते रहते हैं, क्योंकि इन्द्रियलोलुप बुरे-से-बुरा काम भी करनेमें नहीं हिचकता । जहाँतक इन्द्रियोंका दमन नहीं होता वहाँतक पापोंसे बचना बहुत ही कठिन होता है । अतएव सुख चाहनेवाले प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन्द्रियदमन करना चाहिये । जो लोग भगवत्-प्राप्तिका परम सुख पाना चाहते हैं उनके लिये तो इन्द्रियनिग्रह एक अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है ।

इन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रवण (कान), त्वचा (चमड़ी), चक्षु (आँख), रसना (जीभ) और नासिका (नाक)। इनके पाँच ही विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इनके सिवा छठा कोई ऐसा विषय नहीं है जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जा सके। इन्द्रियाँ शरीरके कान, नाक आदि अङ्गोंका नाम नहीं है। उन गोलकोंमें जो शक्ति है उसीको इन्द्रिय कहते हैं। इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायता करनेवाली पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—हाथ, पैर, वाणी, गुदा और उपस्थ (लिंग और योनि)। इन दशों इन्द्रियोंमें रसना (ज्ञानेन्द्रिय) और वाणी (कर्मेन्द्रिय) दोनोंका स्थान एक जीभ ही है। कर्मेन्द्रियोंकी अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ और सूक्ष्म हैं। ज्ञानेन्द्रियोंका निग्रह करनेसे कर्मेन्द्रियोंका दमन आप ही हो जाता है। इन्द्रियाँ निरन्तर मनको विषयोंमें लगाती रहती हैं। पाँचोंमेंसे किसी एक भी इन्द्रियके विषयमें आसक्त होनेसे ही बड़ा अनर्थ हो जाता है, तब जो लोग इन पाँचोंके विषयोंमें आसक्त हैं उन अविवेकियोंके पतनमें तो शङ्का ही क्या है?

एक-एक विषयकी आसक्तिसे किस प्रकार नाश होता है इसका पता इस प्रचलित दृष्टान्तसे लग सकता है—

एक एक इन्द्रियविषय, लोलुप मीन मतङ्ग।
मरत तुरन्त अनाथ सम, भृङ्ग कुरङ्ग पतङ्ग॥

शब्द—हरिणको वीणाका सुर बहुत प्यारा लगता है। व्याध लोग जंगलमें जाकर बड़े मीठे सुरोंमें वीणा बजाते हैं। वीणाकी

सुरीली तान सुनते ही हरिण चारों ओरसे आकर उसके आस-पास खड़े हो जाते हैं और सब कुछ भूलकर उसीमें तन्मय हो जाते हैं। इस अवस्थामें पारधि उन्हें मार डालता है। यह एक कर्ण-इन्द्रियके विषयमें आसक्त होनेका फल है।

स्पर्श—हाथियोंको पकड़नेवाले लोग गहरे गड्हेके ऊपर बाँसका कमजोर मचान रखकर उसपर मिट्टी बिछा देते हैं और उसपर एक कागजकी हथिनी खड़ी कर देते हैं। हाथी काम-मदसे मतवाला होकर उसे स्पर्श करनेको दौड़ता है। मचानपर आते ही उसके भारी बोझसे मचान टूट जाती है और हाथी तुरन्त गड्हेमें गिर पड़ता है। तब लोहेकी मजबूत जंजीरसे लोग उसे बाँध लेते हैं। वनमें निर्भय विचरनेवाला बलवान् गजराज एक स्पर्श-इन्द्रियके विषयमें आसक्त होनेके कारण सहजहीमें अनाथकी तरह बँध जाता है।

रूप—दीपककी ज्योतिको देखकर पतङ्ग मोहित हो जाता है। हजारों पतङ्ग दीपककी लौमें पड़कर जल रहे हैं, इस बातको वह देखता है परन्तु रूपकी आसक्ति उसे दीपककी तरफ जबर-दस्ती खैंच लाती है, बेचारा दीपकमें जलकर प्राण खो देता है।

रस—मछली जीभके स्वादके कारण जलसे बिछुड़कर मरती है। मछली पकड़नेवाले लोग बंसीके काँटेमें मांसका टुकड़ा या आटेकी गोली लगा देते हैं। मछली उसका रस चखनेके लिये

मतवाली-सी होकर दौड़ती है और पास आकर ज्यों ही काँटेपर मुँह मारती है त्यों ही मछली पकड़नेवाला रस्सीका झटका देता है, जिससे काँटा तुरन्त ही मछलीके मुखमें बिंध जाता है और इस तरह वह मारी जाती है !

गन्ध—भ्रमर सुगन्धका बड़ा लोभी होता है। वह कमलके अन्दर जाकर बैठ जाता है और उसकी सुगन्धमें आसक्त होकर सारी सुधबुध भूल जाता है। सूर्य अस्त होनेपर जब कमलका मुख बन्द हो जाता है, भ्रमर उसीके अन्दर कैद हो जाता है। जो भ्रमर मजबूत-से-मजबूत काठमें छेद कर सकता है वही सुगन्धकी आसक्तिसे कमलके कोमल पत्तोंको काटकर बाहर निकलनेमें समर्थ नहीं होता। रातको हाथी आकर कमलको उखाड़ लेता है। हाथीके दाँतोंमें कमलके साथ-साथ भ्रमर भी पिस जाता है। यह दशा एक नासिकाके विषयमें आसक्त होनेपर होती है !

तब फिर क्या किया जाय? इन्द्रियोंका तो काम ही विषयोंको ग्रहण करना है। जबतक इन्द्रियाँ हैं तबतक यह कार्य बराबर चलता है। आँखें रूप ही देखती हैं। कानोंमें शब्द आते ही हैं। नाकसे गन्धका ग्रहण होना नहीं रुकता। कहीं भी खड़े या बैठे रहो किसी चीजका स्पर्श होता ही है। कुछ भी खायँ, जीभको स्वादका पता लगता ही है। इन्द्रियोंका नाश तो हो नहीं सकता, यदि हठवश नाश किया जाय तो जीवन बितानेमें बड़ी कठिनाई होती है। एक भी इन्द्रियका अभाव बड़ा दुःखदायी होता है। अन्धे,

बहरे या गूँगे मनुष्योंको कितनी अड़चन होती है इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियोंके नाशकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता तो उनके बने रहनेकी ही है। ईश्वरने दया करके इन्द्रियाँ हमारे सुभीते और लाभके लिये ही हमें दी है। संयमपूर्वक उनका सदुपयोग करनेसे ही यथार्थ लाभ हो सकता है। यह हमारी ही भूल है कि हम विषयासक्तिसे उनका दुरुपयोग कर बार-बार कष्ट उठाते हैं। किस इन्द्रियकी क्यों आवश्यकता है, किससे कौन-सा कार्य नहीं करना चाहिये और कौन-सा करना चाहिये। इस विषयकी जानकारीके लिये कुछ विचार किया जाता है।

कान–

आवश्यकता—कानसे ही शब्दका ज्ञान होता है। बहरा मनुष्य अच्छी बातें, महात्मा पुरुषोंके उपदेश और व्यवहारकी आवश्यक बातें नहीं सुन सकता, जिससे उसकी लौकिक और पारलौकिक उन्नतिमें बड़ी बाधा आती है। चोर-डकैत या पशु-पक्षीकी आहट सुनकर उनसे बचना भी कान होनेसे ही सम्भव है।

क्या नहीं करना चाहिये—अपनी बड़ाई न सुने (इससे अहङ्कार बढ़ता है) दूसरोंकी निन्दा न सुने, (इससे घृणा, द्वेष, क्रोध और वैर आदि दोष अपने मनमें पैदा होते हैं, दूसरोंके पापके

संस्कार मनपर जमते हैं) परचर्चा—फालतू बातें न सुने, (इससे समय नष्ट होता है, निन्दा-स्तुतिको जगह रहती है, अपने मुँहसे झूठे शब्द निकल सकते हैं और घरका काम बिगड़ता है) ईश्वर, देवता, गुरु, सन्त और शास्त्रोंकी निन्दा न सुने, (इससे अश्रद्धा होती है, अविश्वास बढ़ता है, नास्तिकता आती है, पाप लगता है, साधन बिगड़ता है) वेश्याओंके गायन, अश्लील गीत, शृङ्गार-रसकी गन्दी कविता, धमाल, नाटकों और खेलोंके बुरे गायन, स्त्री-सम्बन्धी बातें, गन्दे नाटक, उपन्यासादि न सुने, (इनसे मनमें विकार होता है, ब्रह्मचर्यका नाश होता है, मनकी चञ्चलता बढ़ती है, विलासिता आती है, धनका नाश होता है, व्यभिचारकी सम्भावना हो जाती है; भगवान्, धर्म, देश और जाति तथा कुटुम्बकी सेवाके कार्योंसे मन हट जाता है) अपनेसे द्वेष रखनेवालेकी चर्चा न सुने, (इससे वैर बढ़ता है) दूसरोंके भोगोंकी बातें न सुने, (इससे लोभ बढ़ता है) ।

क्या करना चाहिये—व्यवहार-बर्तावकी अच्छी बातें सुनना, भगवान्का नाम-गुण और उनकी लीलाकथाएँ सुनना, सत्संगमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, सद्व्यवहारकी बातें सुनना, अपने दोष और दूसरोंके अनुकरण करने-योग्य गुण सुनना । ईश्वर-भक्ति, त्याग, वीरता और देश-भक्तिके सुन्दर गायन सुनना, महात्मा पुरुषोंका उपदेश सुनना और सद्गुरुसे

परमात्माका गूढ़ तत्त्व सुनना आदि । स्मरण रखना चाहिये कि वेदान्त और भक्तिमें पहला साधन श्रवण ही है ।

त्वक् (चमड़ी)

आवश्यकता—गरम, ठण्डे, कड़े, कोमल पदार्थोंकी पहचान इसीसे होती है । यह इन्द्रिय न हो तो पहचाननेकी शक्तिके अभावसे मनुष्यका आगमें जलना, पानीमें गलना, काँटोंसे छिद जाना और कीड़ों-मकोड़ोंसे काटा जाना बहुत आसान होता है । इसके बिना संसारमें काम चलना बड़ा कठिन होता है ।

क्या नहीं करना चाहिये—पर-स्त्रीका स्पर्श पुरुष और पराये पुरुषका स्पर्श स्त्री न करे, (इससे कामोद्दीपन होता है, व्यभिचार बढ़ता है) कोमल गद्दे, तकिये, बिछौने, गलीचे आदिका सेवन भरसक न करे, (इससे आरामतलबी और आसक्ति बढ़ती है, अकर्मण्यता आती है) रेशमी, विदेशी या मिलके बने हुए वस्त्र न पहने, (रेशम लाखों जीवोंकी हिंसासे बनता है, विदेशी वस्त्रोंके सेवनसे देशका धर्म, धन और जीवन नाश हो रहा है । गरीबोंके मुँहका टुकड़ा छिनता है, पवित्रता नाश होती है । मिलोंके कपड़ोंसे भी पवित्रताका नाश और गरीबोंकी हानि होती है । महीन वस्त्रोंसे लज्जा जाती है, खर्च बढ़ता है, बाबूगिरी आती है ।)

यह इन्द्रिय बड़ी प्रबल है । बहुत-से भाई-बहिन पाप समझकर भी विदेशी महीन वस्त्र इसीलिये पहनते हैं कि उनकी

चमड़ीको मोटा वस्त्र सुहाता नहीं । स्पर्शसुखकी इच्छा बड़े-बड़े लोगोंको पथभ्रष्ट कर देती है । रावणके विशाल साम्राज्य और बड़े कुलके सर्वनाशमें यही इन्द्रिय एक प्रधान कारण मानी जाती है । नहुषका इन्द्रपदसे पतन इसी इन्द्रियके कारण हुआ । अनेक बड़े-बड़े युद्धोंमें यही इन्द्रिय कारण थी, मुसलमानोंका पतन प्रायः इसी इन्द्रियकी विशेष लोलुपताके कारण हुआ । और भी अनेक उदाहरण हैं । स्त्रीके लिये पुरुषका और पुरुषके लिये स्त्रीका अंगस्पर्श मोहसे बड़ा सुखदायी मालूम हुआ करता है, परन्तु धर्म और स्वास्थ्यरूपी सुन्दर नगरको उजाड़नेके लिये यह स्पर्शसुख एक भयंकर शत्रु है ।

क्या करना चाहिये–शीत, उष्ण और कंकर-पत्थर आदिसे यथायोग्य बचना, कर्तव्यकी दृष्टिसे पुरुषके लिये अपनी विवाहिता स्त्रीका और स्त्रीके लिये विवाहित पतिका धर्मयुक्त मर्यादित स्पर्श करना । भगवान्‌की मूर्ति और सन्त, माता, पिता, गुरु आदिके चरणस्पर्श करना, श्रीगंगाजलका स्पर्श करना, गरीब, दीन-दुखियोंकी सेवाके लिये उनके अंगोंका स्पर्श करना, और शुद्ध मोटे वस्त्र पहनना आदि ।

आँख—

आवश्यकता–आँख न हो तो परस्परमें लोग भिड़ जायँ, राह चलना कठिन हो जाय, गड्ढोंमें गिर जायँ, पत्थरोंसे ठुकरा जायँ, दीवालोंसे टकरा जायँ, संसारका प्रायः कोई काम ठीक

सम्पन्न न हो, सन्त-महात्मा और भगवान्की मूर्तियोंके दर्शन न हों, प्रकृतिके पदार्थ कुछ भी देखनेको न मिलें। शास्त्रोंका-सद्ग्रन्थोंका अवलोकन होना असम्भव हो जाय, इन्हीं सब जीवनके आवश्यक कार्योंके लिये नेत्र-इन्द्रियकी बड़ी आवश्यकता है।

✓ *क्या नहीं करना चाहिये*—स्त्रियाँ पुरुषोंके और पुरुष स्त्रियोंके रूपको बुरी दृष्टिसे न देखें। जहाँतक हो सके, पर-पुरुष और पर-स्त्रीके अंग देखनेकी चेष्टा ही न की जानी चाहिये। (इससे कामोद्दीपन होकर ब्रह्मचर्यका नाश होता है) बुरे नाटक, सीनेमा, खेल, तमाशे, नाच-रंग न देखे (इससे व्यर्थ धन खर्च होता है, मनमें बुरे भाव पैदा होते हैं, कुसंगकी आदत पड़ती है, ब्रह्मचर्यका नाश होता है)। मनको लुभानेवाले पदार्थ और घटनाएँ न देखे। गन्दी चेष्टाएँ कदापि न देखे। (महामुनि सौभरी मछलियोंकी कामक्रीड़ा देखकर ही प्रपञ्चमें फँसे थे। ब्राह्मणकुमार अजामिल क्षणभरके कामप्रसंगको देखकर ही महापापी बन गया था)। परायी नयन-लुभावनी चीजें न देखे (इससे मनमें कामना उत्पन्न होती है, लोभ बढ़ता है, जलन और दुःख होता है)। किसीकी चमकीली भड़कीली पोशाक, टेढ़े-मेढ़े बाल और टेढ़ी चाल लोलुपतासे न देखे, (इससे मोह पैदा होकर पतनका कारण होता है। बुरे भाव बहुत जल्दी ग्रहण किये जाते हैं)।

क्या करना चाहिये—भगवान्, भक्त और सन्तोंका दर्शन करना, भगवल्लीलाओंका देखना, सत्शास्त्रों और सत्स्थानोंका

देखना। भक्ति, प्रेम, वैराग्य और वीरता उत्पन्न करनेवाले चित्रोंका देखना, मार्ग देखकर चलना, यथायोग्य व्यवहारके लिये जगत्के पदार्थोंका अलोलुप दृष्टिसे निरीक्षण करना।

जीभ—

ज्ञानेन्द्रियके नाते—

आवश्यकता—इससे खट्टे, कड़वे, तीखे, रूखे पदार्थोंका पता लगता है, यह न हो तो खाद्य पदार्थोंके स्वादसे उनके गुणका पता न लगे, मनुष्य मीठा-ही-मीठा या नमक-ही-नमक खाकर बहुत जल्दी मर जाय।

कर्मेन्द्रियके नाते—

मनुष्यके लिये सबसे प्रधान साधन वाणी है। वाणीसे ही मनुष्यका पता लगता है। प्रायः वाणी ही मनुष्यको ऊँचा-नीचा, गुणी-दुर्गुणी, साधु-नीच और भला-बुरा साबित करती है। वाणीका कार्य जीभसे होता है, अतः इसकी बड़ी आवश्यकता है।

ज्ञानेन्द्रियकी हैसियतसे—

क्या नहीं करना चाहिये—खट्टे, मीठे, चरपरे पदार्थोंके स्वादमें नहीं फँसना चाहिये, (इससे चटोरपन बढ़ता है, चटोरोंकी बड़ी दुर्गति होती है। बहुत-से लोग इसी कारण धर्मभ्रष्ट और दुखी होते हैं। धर्म और स्वास्थ्यको भुलाकर चाहे जहाँ, चाहे सो खाना-पीना इसी इन्द्रियके कारण होता है। रोगी मनुष्य इसी इन्द्रियकी

आसक्तिके कारण वैद्यकी आज्ञाके विरुद्ध कुपथ्य कर मृत्युको बुला लेते हैं। इसी इन्द्रियके कारण देवताओंतकके लिये बनी हुई रसोई भी पहले जूँठी कर दी जाती है। चटोरेपनसे चोरीकी आदत पड़ती है। मीठा खानेकी आसक्तिसे मधुमेह और कृमिकी बीमारी, नमकीन तथा खट्टेकी आसक्तिसे वीर्यक्षयकी बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। बासी, तीखे, सड़े हुए (बड़े, अचार आदि) पदार्थोंकी आसक्तिसे तरह-तरहकी बीमारियाँ होतीं और तामसिकता बढ़ती है।) मद्य, मांस, डाक्टरी दवाएँ और अपवित्र पदार्थोंका खान-पान न करे, (इससे धर्म, धन, स्वास्थ्य, बुद्धि सबका नाश होता है।) चोरी, अन्यायका अपवित्र अन्न न खाय (इससे बुद्धि बिगड़ती है। महाराज भीष्मतककी बुद्धि बिगड़ गयी थी। तमोगुणी बुद्धिसे तमोगुणी कार्य होते हैं और इससे उसका पतन हो जाता है।)

कर्मेन्द्रियकी हैसियतसे—

कड़वा न बोले, (इसमें दूसरोंकी आत्माको बड़ा दुःख पहुँचता है, वैर बढ़ता है।) किसीकी निन्दा या चुगली न करे, (इससे दूसरोंके पापोंका हिस्सा मिलता है। घृणा, द्वेष, वैर, क्रोध, हिंसा आदि दोष पैदा होते हैं। पराया और अपना नुकसान होता है। मामले-मुकद्दमे लग जाते हैं और पापोंके चित्र हृदयपर अङ्कित होते हैं।) अपनी बड़ाई न करे, (इससे पुण्यका नाश होता है। खुशामदपसन्दगी आती है।) अपना दान और

परोपकार प्रकट न करे, (इससे उस पुण्यका नाश होता है। महाराज ययाति अपने दान-पुण्यका कथन अपने मुँहसे करनेके कारण ही पुण्योंके नाश होनेसे स्वर्गसे गिरा दिये गये थे।) किसीकी खुशामद न करे, (इससे झूठ बोलनेकी और चापलूस बननेकी आदत पड़ जाती है, तेज घट जाता है।) परचर्चा या फालतू बातें न करे, (इससे समय नष्ट होता है। झूठे शब्द निकलने लगते हैं। व्यर्थ निन्दा-स्तुति होती है। अनावश्यक संस्कार मनपर जमते हैं, पराये छिद्र देखनेकी आदत पड़ जाती है।) मिथ्या न बोले, (इससे प्रायः समस्त धर्मोंका नाश होता है, विश्वास चला जाता है, वाणीका तेज घट जाता है।) ताना न मारे, आक्षेप न करे, किसीकी अङ्गहीनता या कर्महीनताका दोष बताकर अर्थात् तू अन्धा है, बहरा है, कोढ़ी है, पापी है, तू राँड है आदि शब्दोंसे सम्बोधन न करे, (इससे सुननेवालेके चित्तमें बड़ा दुःख होता है।) अपशब्द न बोले, अश्लील न बोले, शृंगारके गान न गावे, कामोद्दीपक शब्द न बोले, (इससे वीर्य-नाश होकर अधःपतन होता है।) किसीसे अपने लिये कुछ भी न माँगे। इससे तेज घटता है, माँगनेवाला लोगोंकी दृष्टिसे गिर जाता है, मानका नाश होता है।) हरि, गुरु, शास्त्र, सन्त, माता-पिता, गुरुजनोंकी दोषचर्चा न करे, (इससे अश्रद्धा, अविश्वास, धृष्टता और उच्छृङ्खलता बढ़ती है।)

ज्ञानेन्द्रियकी हैसियतसे-

क्या करना चाहिये-वस्तुओंके गुण-दोष पहचानकर जो वस्तु धर्म और स्वास्थ्यके अनुकूल हो तथा आयु, सत्त्व, बल, आरोग्यता, सुख और प्रीति आदिको बढ़ानेवाली हो, सात्त्विक हो, जिसके सेवनसे बुद्धि सात्त्विक हो सके, ऐसी वस्तु सेवन करे। भगवान्‌के प्रसादका भोग लगावे, गङ्गाजल आदि पान करे, भगवान्‌का चरणामृत ले।

कर्मेन्द्रियकी हैसियतसे-

सत्य, मीठे, हितकारी, उद्वेग न करनेवाले, सीधे और प्यारे वचन बोले, नम्रतासे बोले, भगवान्‌का नाम-गुण, जप-कीर्तन करे, अपने दोष और दूसरोंके अनुकरणीय गुणोंको प्रकट करे, तथा थोड़ा बोले। ऐसी बातें कहे जिनसे दूसरोंके चित्तमें प्रसन्नता हो, सुनने और माननेमें सुख पहुँचे। इसलोक और परलोकमें कल्याण हो!

नासिका-

आवश्यकता-नासिका गन्धके ज्ञानके लिये है। यह न हो तो मनुष्य गन्दी जगह रहकर और गन्दी वस्तुओंका सेवन कर बीमार हो जाय। अच्छे पुरुषोंको और देवताओंको गन्दी वस्तुएँ प्रदानकर उनके अपमानका कारण बने। इन्हीं सब अभावोंकी पूर्तिके लिये नाककी आवश्यकता है।

क्या नहीं करना चाहिये—अतर फुलेल, ऐसेंस, सेंट आदिकी गन्धमें आसक्त न होवे, (इससे विलासिता बढ़ती है। बुरी आदतें पड़ती हैं। धन और धर्म जाता है। उस सुगन्धको पाकर दूसरे लोगोंकी भी वैसी ही इच्छा होती है। पैसे नहीं होनेसे वे चोरी करते हैं। अतः शौकीनीके लिये इनका व्यवहार करनेवाले खुद डूबते हैं और दूसरोंको डुबोते हैं!) अनावश्यक माला फूल इत्यादि धारण नहीं करना चाहिये। (इससे भी आसक्ति बढ़ती है।)

क्या करना चाहिये—स्वास्थ्यके लिये दुर्गन्धका त्याग करना चाहिये, धूप धूने आदिकी और यज्ञकी सुगन्ध लेनी चाहिये, भगवान्‌के प्रसाद, तुलसी आदिकी सुन्दर गन्ध ग्रहण करनी चाहिये।

इस प्रकार सोच-समझकर इन्द्रियोंका सदुपयोग करना यानी विषयोंमें आसक्त न होकर उनका उचित व्यवहार करना चाहिये। जबतक इन्द्रियाँ हैं तबतक उनका विषयोंमें लगे रहना अनिवार्य है। अतएव उन्हें आत्माको गिरानेवाले, लोक-परलोक बिगाड़नेवाले निन्दित विषयोंमें न लगाकर सद्विषयोंमें लगाना चाहिये। यही इन्द्रियनिग्रह है। अग्निसे भोजन बनता है, शीतनिवारण होता है और रोगके परमाणु नाश होते हैं, अग्नि कोई बुरी चीज नहीं है, बुरा है उसका दुरुपयोग। दुरुपयोग करनेसे

हाथ-पैर जल जाते हैं। घरद्वार स्वाहा हो जाते हैं। ठीक यही हाल इन्द्रियोंका है। इसलिये इन्द्रियोंके गुलाम न बनकर उन्हें अपने वशमें करना चाहिये। वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यथोचित व्यवहार करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है। भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(गी० २। ६४)

'स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष रागद्वेषरहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका व्यवहार कर चित्तके प्रसाद-को प्राप्त होता है।'

परन्तु इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
(गी० २। ६०)

'हे अर्जुन! यत्नशील बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं।' मनु महाराज कहते हैं—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥
(मनु० २। ९९)

'जलकी बखालमेंसे जैसे एक छिद्र हो जानेसे जल निकल जाता है उसी प्रकार सब इन्द्रियोंमेंसे यदि एक इन्द्रिय भी विषयमें आसक्त हो जाय तो उसके द्वारा बुद्धि नष्ट हो जाती है ।'

इसलिये विषय-भोगोंमें दुःख और दोष देख-देखकर इन्द्रियों-को उनसे हटाना और उन्हें उत्तम, आवश्यक तथा कल्याणमय कर्तव्य-कर्मोंमें सदा लगाना चाहिये । इसीको इन्द्रियका वशमें करना कहते हैं ।

भगवान् कहते हैं—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता

'जिस पुरुषके इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर होती है ।' परन्तु स्मरण रखना चाहिये, केवल जबरदस्ती विषयोंसे रोकनेसे ही इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं । मनु महाराज कहते हैं—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥

(मनु० २ । ९६)

'विषयासक्त इन्द्रियाँ (विषय और शरीर नाशवान् और क्षणभंगुर हैं एक परमात्मा नित्य सत्य है) इस प्रकारके नित्य विवेकसे जैसे वशमें होती हैं, केवल विषयोंके त्यागसे वैसे वशमें नहीं होतीं ।'

इन्द्रियनिग्रहके बारह उपाय

(१) भोगोंकी क्षणभंगुरताका नित्य विचार करना।

(२) भोगोंके दोष और दुःखोंको देखते रहना।

(३) परमात्माकी नित्यताका नित्य मनन करना।

(४) परमात्माकी प्राप्तिके परम सुखकी सदा कल्पना करना।

(५) भगवन्नामका जप करना।

(६) सर्वदा अच्छे कामोंमें लगे रहना।

(७) एकान्तमें निकम्मा न रहना।

(८) सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्शास्त्रोंका अध्ययन करना।

(९) सात्त्विक पदार्थ खाना।

(१०) जब इन्द्रिय किसी विषयकी ओर झुके तब उसमें अकस्मात् प्रवृत्त नहीं होना। कुछ ठहर जाना, उसका नतीजा सोचना।

(११) व्यायाम और योगके आसनोंका अभ्यास करना।

(१२) परमात्माकी नित्य स्तुति करना।

इन साधनोंसे इन्द्रियनिग्रहमें बड़ी सहायता मिलती है। शेषमें वह जितेन्द्रिय हो जाता है। जितेन्द्रिय पुरुषके लक्षण ये हैं –

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥

(मनु० २। ९८)

जो पुरुष (स्त्रियोंके सुन्दर गायन, अपनी बड़ाई तथा कठोर वचन और निन्दा) सुनकर, (कोमल अङ्ग, पुष्प, नरम पोशाक, गुदगुदे गद्दे या कठोर पहाड़ी कङ्कड़, मोटी कम्बल और खाली जमीनको) स्पर्शकर, (स्त्री, सुन्दर दृश्य, बाग-बगीचे या दुःखदायी विकट दृश्य) देखकर, (मधुर मेवा-मिठाई या रूखा-सूखा पदार्थ) खाकर और (सुगन्ध या दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंको) सूँघकर हर्ष और ग्लानिको प्राप्त नहीं होता वही जितेन्द्रिय है।'

धी अर्थात् बुद्धि

मानव-धर्मका सातवाँ लक्षण श्रेष्ठ बुद्धि है। मनुष्यके अन्दर बुद्धि ही एक ऐसी अद्भुत वस्तु है जिसपर उसका पतन और उत्थान निर्भर है। कठोपनिषद्‌के वचन हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठ० ३।१।३-४)

'शरीर रथ है, आत्मा रथी है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, शब्द-स्पर्शादि विषय मैदान है और शरीर, इन्द्रिय तथा मनयुक्त आत्मा भोक्ता है।'

रथ घोड़ोंके बिना नहीं चलता परन्तु उसे ठीक रास्तेसे ले जाना, हाथमें लगाम पकड़े हुए बुद्धिमान् और तत्पर सारथीका ही काम है। सारथीमें चार गुण अवश्य होने चाहिये। रथीकी आज्ञाका पालन करना, जहाँ जाना है उस स्थानको जानना, मार्ग जानना और मजबूतीसे लगाम थामकर यथोचितरूपसे ठीक मार्गपर घोड़ोंको चलाना। इनमेंसे किसी भी गुणकी कमी होने-पर रथके गिरने या मार्गभ्रष्ट होनेका भय रहता है। इन्द्रियरूपी बलवान् और प्रमथनकारी घोड़े विषयरूपी मैदानमें मनमाने

दौड़ना चाहते हैं परन्तु यदि बुद्धिरूपी बल-बुद्धि-विशारद सारथी मनरूपी लगामको जोरसे खींचकर उन्हें अपने वशमें रखनेमें समर्थ हो तो उन जुते हुए इन्द्रियरूपी घोड़ोंकी इतनी ताकत नहीं कि वे मनरूपी लगामका सहारा मिले बिना ही चाहे जिस तरफ दौड़ सकें।

हमारा मन दूसरी तरफ लगा हुआ हो उस समय हमारे सामनेसे कोई निकल जाय या कोई कुछ भी बातें करता रहे, आँख और कान मौजूद रहनेपर भी हमें उसका पता नहीं लगता, पूछनेप हम कह देते हैं कि हमारा मन दूसरे काममें था इससे हमने ेखा या सुना नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ किसी वियको तभी ग्रहण कर सकती हैं जब कि मन उसके साथ हो—घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं जिस ओर लगामका सहारा हो। लगामको ठीक रखना सारथीका कार्य है। यदि बुद्धिरूपी सारथी विवेकरहित, कर्तव्य-निर्णयमें असमर्थ और बलहीन हो तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़े उसके वशमें नहीं रहकर लगामको अपने वशमें कर लेते हैं और मनमाने चाहे जिधर दौड़कर रथको रथी और सारथीसोत बुरेसे बुरे स्थानमें ले जाकर पटक देते हैं।

मान लीजिये हम अपने मकानमें कमरेके अन्दर बैठे हुए हैं। रास्तेसे कुछ झब्बरकी आवाज आयी। आवाजका पता कर्ण-इन्द्रियको लगा। परन्तु उसका यह बतलानेका सामर्थ्य नहीं कि आवाज किस

चीज़की है। कानने यह विषय मनके सामने रक्खा, मन विकल्प करने लगा। (वास्तवमें मनका स्वरूप ही संकल्प-विकल्पात्मक है। मन निर्णय नहीं कर सकता) मनने यह विषय बुद्धिके सामने रक्खा, बुद्धिने विचारकर यह फैसला दिया कि किसी राह चलनेवाली स्त्रीके पायजेबकी आवाज है। यह निश्चय होते ही मन फिर चाहता है कि जरा उसे देखूँ, यहाँ यदि बुद्धि धर्ममें सावधान और परमात्मामें निश्चयात्मिका होती है तो तुरन्त मनको डराकर या समझा-बुझाकर रोक देती है। परन्तु यदि ऐसा नहीं होता तो बुद्धि मनका साथ दे देती है। बुद्धिसे ढिलाई पाते ही मन इन्द्रियोंके अधीन हो जाता है, फिर पैर दौड़ते हैं, आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, क्रमशः सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापारमें लग जाती हैं। जरा-सी बुद्धिकी ढिलाईसे महापाप बन जाता है। इस बातको लिखने-पढ़नेमें बहुत देर लगती है पर यह इन्द्रिय, मन, बुद्धिका व्यापार निरन्तर क्षणभरमें होता है। कानमें आवाज आतेही मनने सोचा, क्या है, बुद्धिने मीमांसा कर दी, फिर मनमेंइच्छा हुई, उसे बुद्धिने या तो रोक दिया या मनकी हाँमें हाँ मिला दी।

इससे भी उपर्युक्त दृष्टान्तकी पुष्टि होती है। बुद्धिरूपी सारथीके द्वारा मनरूपी लगामको छूट मिलते ही इन्द्रियरूपी घोड़े स्वेच्छाचारी बन जाते हैं और इन्द्रियोंके वशमें होकर चलनेसे ऐसी कोई बुराई नहीं, जो नहीं हो सकती। अतएव सब

तरहकी बुराइयोंसे बचकर शरीररूपी रथमें बैठे हुए हम यदि अपने लक्ष्यस्थलपर—परमात्माके परमधाममें पहुँचना चाहते हैं तो बुद्धिरूपी सारथीको परमेश्वरमें निश्चयवाला बनाकर इन्द्रियरूपी घोड़ोंको मनरूपी लगामके सहारेसे रथको सतोगुणी विषयोंरूपी राजमार्गपर चलाना चाहिये जिससे कि वह जहाँतक जा सकता हो वहाँतक ठीक मार्गपर ही जाय। शरीर-रथमें स्थित आत्माके लिये लक्ष्यतक पहुँचनेका दूसरा कोई रास्ता नहीं है। चलना इसी रथके द्वारा इन्हीं साधनोंसे है, भेद केवल सुमार्ग और कुमार्गका है। सुमार्गगामी रथ सीधा अपने घरके पास पहुँचा देता है और कुमार्गगामी रथ वारम्बार अन्धकारमय गड्हेमें डालकर दुःख देता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि परमधाममें नहीं जा सकते, उसे न पाकर वापस लौट आते हैं, परन्तु जहाँतक जिसकी गम्य है, वहाँतक तो उसीके सहारेसे हमें चलना होगा।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(गीता ३। ४२)

'इस शरीरसे इन्द्रियोंको श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं, इन्द्रियोंसे मन परे है, मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है।'

रथके दृष्टान्तमें यह बात ठीक मिलती है। रथ वहींतक जा सकता है जहाँतक सीधी सड़क है। महलके सामनेकी सड़क-तक रथ गया, घोड़े उससे आगे महलके आगेके मैदानतक जा सके, वहाँ वे छायामें वृक्षतले बाँध दिये गये, लगाम आदि साज बाहरके डेरेतक लाये जा सके—चमड़ा होनेसे महलमें उनका प्रवेश नहीं हो सकता, शूद्र सारथी महलकी ड्योढ़ीतक गया, अन्दर प्रवेश करनेका उसका अधिकार नहीं, रथी अन्तः-पुरमें चला गया। रथी घरका मालिक घरमें घुसकर वापस नहीं लौटा, सारथी बाहरसे महलको देखकर वापस लौटा, साजके समीप आकर उसने साज लिया, आगे आकर घोड़े साथ लिये, सड़कपर आकर रथ जोड़ा और रथीहीन उस रथको लेकर वह वापस लौट आया! *'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'* उसीने वापस आकर बाहरसे देखी हुई महलकी शोभा और उसके सुखोंका वर्णन किया। इसीलिये ब्रह्मका स्वरूप वर्णन नहीं किया जा सकता। जो पहुँच जाता है वह तो वापस लौटता नहीं और जो लौटता है वह अन्दरका रहस्य जानता नहीं, परन्तु बुद्धि अन्तिम दरवाजेतक पहुँचानेवाली होती है, इससे वह बाहरकी सारी बातें बतला सकती है। अबतक ब्रह्मका जितना वर्णन किया गया है, वह सब इसी प्रकार मुक्त-पुरुषोंकी लौटकर आयी हुई बुद्धिका कार्य है जो लक्ष्यको ठीक बताता है, लक्ष्यतक पहुँचानेमें अच्छी और यथार्थ सहायता

करता है, परन्तु लक्ष्यका असली रहस्य नहीं बता सकता तथापि उस ब्रह्मका स्वरूप सूक्ष्मदर्शियोंद्वारा सूक्ष्मवस्तुके निरूपणमें निपुण एकाग्रतायुक्त शुद्धबुद्धिके द्वारा ही देखा जा सकता है।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः

(कठ)

बुद्धि ही आत्मसाक्षात्कारमें प्रधान साधन है। बुद्धि तीन प्रकारकी होती है, जो लोग भगवत्-प्राप्तिके साधनमें लगे हुए हैं, उनकी बुद्धि तो सात्त्विकी होती है। सात्त्विकी बुद्धिका स्वरूप यह है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

(गीता १८। ३०)

भगवान् कहते हैं कि–'हे अर्जुन! प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य एवं भय और अभय तथा बन्धन और मोक्षको जो (सूक्ष्म) बुद्धि, तत्त्वसे जानती है वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

इसी बुद्धिरूपी सारथीके द्वारा शरीररथ भलीभाँति परिचालित होता है। यह बुद्धि कल्याणके मार्गमें निश्चयात्मिका एक ही होती है। परन्तु अज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धि अनेक भेदवाली अनन्त रूप बन जाती है।

राजस पुरुषोंकी बुद्धि राजसी और तामसोंकी तामसी होती है। गीतामें भगवान्‌ने इसका स्वरूप बतलाया है—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(१८। ३१-३२)

भगवान् कहते हैं—'हे पार्थ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य धर्म, अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्यको भी यथार्थ नहीं जानता है वह बुद्धि राजसी है। और जो तमोगुणसे ढकी हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है तथा और भी समस्त अर्थोंको विपरीत ही मानती है वह बुद्धि तामसी है।'

मनु महाराजने 'धी' शब्दसे इन दोनों बुद्धियोंको न बतलाकर उस सात्त्विकी श्रेष्ठ बुद्धिको बतलाया है जो सत्संग और सत्‌शास्त्रोंके अनुशीलन, भगवद्भजन और आत्मविचारसे प्राप्त होती है और जिससे परम कल्याणस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है।

विद्या

मानव-धर्मका आठवाँ लक्षण है विद्या । विद्या-शब्दसे यहाँ अध्यात्मविद्या लेनी चाहिये, इसीको भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है *(अध्यात्मविद्या विद्यानां—गीता १०।३२)* और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति होती है । जो विद्या संसारके बड़ेसे बड़े पद या ऐश्वर्यको प्रदान करनेवाली होनेपर भी भगवत्-प्राप्तिमें सहायक नहीं है वह वास्तवमें विद्या नहीं है । आजकल जिसको विद्या कहते हैं और जिसकी प्राप्तिके लिये विद्यालयोंका विस्तार हो रहा है वह तो अधिकांशमें घोर अविद्या है । जिससे प्राचीन भारतकी त्यागपूर्ण विद्यापर कुठाराघात होता है, जो भोग-परायणताको बढ़ाती है, जो इसलोकके सुखको ही परम सुख मानना सिखलाती है, जो गुलाम और क्लर्कोंकी संख्या-वृद्धि कर रही है, जो परमुखापेक्षी बनाती है, जो मिथ्या अभिमान उत्पन्न कर परमार्थ-साधनमें सहायता करनेवाली संस्कृतिका विनाश करती है और जो ईश्वरके अस्तित्वपर अविश्वास उत्पन्न कर देती है, ऐसी विद्यासे तो सर्वथा बचना ही श्रेयस्कर है । आजकलकी शिक्षापद्धतिसे प्रायः ऐसी नाशकारी विद्याका ही विस्तार हो रहा है ।

विद्या वह है जो धर्म और सदाचारमें श्रद्धा उत्पन्न कराती है । जो सारे विश्वमें परमात्माके स्वरूपका दर्शन कराकर सबसे निर्वैर बनाती है । जो समस्त अनेकतामें एकताका वास्तविक स्वरूप बतलाकर जीवको सदाके लिये परम सुखके स्थानपर पहुँचा देती है । हमें उसी ब्रह्मविद्याका आश्रय लेना चाहिये ।

सत्य

सत्यमेव जयते नानृतम्

मानव-धर्मका नवाँ लक्षण 'सत्य' है। संसारके विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंमें नानाप्रकारके मतभेद रहनेपर भी इस विषयमें सबका एकमत है। सम्पूर्ण शास्त्रोंने सत्यकी महिमा एक स्वरसे गायी है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिमें ब्रह्मका स्वरूप सत्य बतलाया है। तैत्तिरीय श्रुति कहती है—

सत्यान्न प्रमदितव्यम्

सत्यसे विचलित मत होओ।

महाभारतके वचन हैं—

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥
उपैति सत्याद्दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः॥
अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

(शा० अ० १६२)

'सत्यके समान धर्म नहीं है और असत्यके समान पाप नहीं है, धर्म सत्यके आश्रयसे टिकता है इसलिये सत्यका लोप कभी नहीं करना चाहिये। सत्यसे दानका, दक्षिणायुक्त यज्ञोंका, अग्निहोत्रका, वेदाध्ययनका और अन्यान्य धर्मोंका फल मिलता

है। हजार अश्वमेध-यज्ञोंका फल तराजूकी एक ओर और सत्य दूसरी ओर रखकर तौला जाय तो हजार अश्वमेधकी अपेक्षा सत्यका पलड़ा ही भारी रहता है।'

सत्यके सम्बन्धमें यदि शास्त्रों और महात्माओंके वाक्य उद्धृत किये जायँ तो एक बड़ा पोथा तैयार हो सकता है। विचार तो इस बातपर करना है कि सत्य क्या वस्तु है और उसका प्रयोग कैसे हो सकता है?

सत्य क्या है?

वास्तवमें तो सत्य एक परमात्मा ही है। शास्त्रमें कहा है—

आब्रह्म तृणपर्यन्तं मायया कल्पितं जगत्।
सत्यमेकं परब्रह्म विदित्वैवं सुखी भवेत्॥

'ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सभी पदार्थ मायासे कल्पित हैं। एक परब्रह्म ही सत्य है, उसीको जानकर जीव सुखी होता है।' जो नित्य है, अविनाशी है, एकरस है, शुद्ध बोधघन है, चैतन्य है और छः विकारोंसे रहित है वही सत्य है। उसमें स्थित रहना ही वास्तवमें सत्यका पालन है। जबतक ऐसा न हो तबतक सरलताके साथ उसे जाननेके प्रयत्नमें लगे रहना भी सत्यका आचरण कहलाता है। इसीलिये पितामह भीष्मने सत्यके तेरह लक्षण बतलाये हैं। युधिष्ठिरके पूछनेपर पितामह कहते हैं—

अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत॥
सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।

सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमागतिः॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥
(शा० अ० १६२)

'सत्य सभी वर्णोंमें सदा विकाररहित है। सत्पुरुषोंमें सदा सत्य रहता है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्यरूप (ईश्वर ही सबकी) परमगति है, अतएव सत्यको नमस्कार है। धर्म, तप, योग, यज्ञ और सनातन ब्रह्म सत्य ही है। एकमात्र सत्यमें ही सब प्रतिष्ठित हैं।'

भीष्मजी फिर कहते हैं—

आचारानिह सत्यस्य यथावदनुपूर्वशः।
लक्षणञ्च प्रवक्ष्यामि सत्यस्येह यथाक्रमम्॥
प्राप्यते च तथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि।
सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत॥
सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश॥
सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते॥
(शा० अ० १६२ श्लो० ६ से १०)

'अब मैं तुम्हें क्रमसे सत्यके आचार और लक्षण यथार्थ-रूपसे सुनाता हूँ। सत्य कैसे मिलता है यह तुझे सुनना चाहिये।

हे युधिष्ठिर ! सत्य तेरह प्रकारका कहलाता है यानी ईश्वररूपी सत्यकी प्राप्ति इन तेरह उपायोंसे होती है । समता, दम, मत्सर-हीनता, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनसूया, त्याग, ध्यान, साधुता, धैर्य, दया और अहिंसा यह तेरह हैं । सत्य सदा अविकारी और अविनाशी है तथा यह इन सब धर्मोंकी अनुकूलतासे मिलता है ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि एक ब्रह्म ही सत्य है और उसे पानेके जो साधन हैं वे भी सत्य कहलाते हैं । इन साधनोंसे युक्त सत्य ही सत्य है । इन साधनोंके विस्तार करनेकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती; कारण, इनमेंसे कितनोंही-का वर्णन तो इस लेखमें मानव-धर्मके लक्षणोंमें आ चुका है और यहाँ इस नवें लक्षणमें सत्य शब्द विशेषकर वाणीसे ही सम्बन्ध रखता है । इन्द्रियों और मनसे जैसा-जैसा देखा, सुना, सूँघा, स्पर्श किया, चक्खा और समझा, ठीक वैसा-का-वैसा ही कहना सत्य कहलाता है । यह सत्य शब्दकी व्याख्या की जाती है, परन्तु वस्तुतः ठीक ऐसा होना असम्भव है । आँख जैसा रूप देखती है या कान जैसे शब्द सुनते हैं उनका यथार्थ वर्णन शब्दोंद्वारा हो ही नहीं सकता । कारण, नेत्र और कर्ण आदि इन्द्रियोंमें अपने विषयोंको जाननेकी और मनमें सोचनेकी जितनी शक्ति है और वे तनिक-सी देरमें जिस पटुतासे अपना काम कर लेते हैं उतना ज्यों-का-त्यों व्यक्त करनेके लिये किसी भी भाषामें पर्याप्त

शब्द ही नहीं बने। इससे यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि मैंने जैसा कुछ देखा सुना या समझा है उसे ज्यों-का-त्यों यथार्थ कह रहा हूँ। तब सारी बातें आकर ठहरती हैं मनकी सरलतापर। मनमें किसी बातका छिपाव-दुराव न रक्खे। जैसा समझा हो ईमानदारीसे सरलताके साथ ठीक वैसा ही समझानेकी चेष्टा करे। सुने हुए पूरे शब्द समयपर न भी निकलें पर मन सच्चा और सरल हो तो वह बेईमान या झूठा नहीं कहा जा सकता।

योगदर्शन साधनपादके तीसरे सूत्रके भाष्यमें भगवान् व्यास कहते हैं—

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथादृष्टं, यथानुमितं, यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति, परत्रस्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति।

'मनसहित वाणीके यथार्थ कथनका नाम सत्य है यानी जैसा देखा, समझा और सुना है, दूसरेको कहते समय ठीक मन और वाणीका वैसा ही प्रयोग करना चाहिये। देख, सुन, समझकर जो बात अपनी समझमें जैसी आयी है, ठीक वही सुननेवालेके भी समझमें आवे, ऐसे कथनका नाम सत्य है। भाषामें ठीक वही शब्द बोलनेपर भी यदि तुम्हारी वाक्-चातुरी या असावधानीसे सुननेवाला भ्रममें पड़ जाय, या ठगा जाय तो उसका नाम सत्य नहीं है। अथवा भाषा सत्य होनेपर भी भाव बदलकर कहनेके

कारण यदि सुननेवाला उस बातको ठीक न समझ सके तो वह भी सत्य नहीं है ।'

इसमें सबसे मुख्य यही बात समझमें आती है कि मनुष्यको ऐसे ही वचन बोलने चाहिये जिनसे सुननेवाला ठगा न जाय, धोखा न खाय और जो तुम समझे हो, ठीक वही बात वह भी समझ जाय । इसके लिये आवश्यकता पड़नेपर वाक्योंके साथ-साथ इशारोंसे भी काम लेना चाहिये । वास्तवमें सरलता होनेपर यह सब कुछ सम्भव है । दूसरोंको ठगनेकी नीयत मनमें रखकर भावोंको छिपाकर शब्दोंसे 'सच्चे मियाँ' बननेवालोंकी आजकल भी कमी नहीं है । परन्तु हृदयके सरल सत्यवादी पुरुष बहुत थोड़े हैं ।

कुछ लोगोंकी समझ है कि व्यापार, विवाह, अदालत और जातीय कार्य आदिमें तो सत्यका व्यवहार न करनेकी हमें छूट ही मिली हुई है, परन्तु यह बात ठीक नहीं है । झूठ बोलनेकी विधि कहीं नहीं मिलती, अपवादस्वरूप शब्द कहीं-कहीं मिलते हैं, सो भी खासकर ऐसी जगहके लिये जहाँ सत्य बोलनेसे दूसरेका अहित (अनिष्ट) होता हो । यद्यपि महाभारत-शान्तिपर्वके दसवें अध्यायमें भीष्मपितामहके उदाहरणों सहित कुछ ऐसे वचन मिलते हैं कि 'जहाँ असत्य सत्य होता हो और सत्य असत्य होता हो वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिये ।......डाकू किसीका धन लूटने आवें उस समय उन्हें सच्ची बात नहीं कहनी चाहिये ।' परन्तु

इनसे भी असत्य बोलनेकी कोई विधि सिद्ध नहीं होती । क्योंकि इसी अध्यायमें सबसे पहले पितामहके वचन हैं–

सत्यस्थवचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।

'सत्य बोलना श्रेष्ठ है, सत्यसे उत्तम और कुछ भी नहीं है।' हाँ, योगदर्शनके भाष्यमें भगवान् व्यासने उन वचनोंका निषेध अवश्य किया है जिनसे दूसरोंकी हानि होती हो । वह कहते हैं–

एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात् न सत्यं भवेत्। पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ।

'इस प्रकारसे वाक्योंका प्रयोग करना चाहिये जिससे जीवोंका मङ्गल हो । किसीका भी अनिष्ट न हो । यदि ठीक-ठीक वाक्य-उच्चारणसे भी दूसरेका अनिष्ट होता हो तो वह सत्य नहीं है, पाप है । एक बार वह पुण्य दीखता है, परन्तु उससे (मैं सच्चा हूँ, मैं खरी कहता हूँ, चाहे किसीका बने या बिगड़े) अभिमान उत्पन्न होकर और दूसरेके बुराईसे होनेवाले पापके कारण, उसके परिणाममें अत्यन्त कष्ट (नरक-दुःख) भोगना पड़ता है । इसलिये बहुत विचारके साथ ज़बान खोलनी चाहिये, जिससे जीवोंका हित हो, कहीं भी किसीका अनिष्ट न हो ।'

यही बात महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नायथार्थाभिभाषणम् ॥

'प्राणियोंका हित करना और यथार्थ बोलना ही सत्य है।'

मनु महाराजने तो *'न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्'*. अप्रिय सत्य-तकका भी निषेध किया है!

अतएव यही मालूम होता है कि पराये हितका पूरा खयाल रखकर हृदयकी सरलतासे यथासाध्य यथार्थ भाषण करना ही सत्य समझा गया है!

दो धर्मोंके अड़ जानेपर क्या करना चाहिये ?

अब एक सवाल यह उठता है कि जहाँ दो धर्म आपसमें अड़ जाते हैं वहाँ क्या करना चाहिये ? मान लीजिये एक गौ दौड़ी जा रही है, उसके पीछे एक कसाई मारनेको दौड़ता है, गौ जाकर जंगलमें छिप गयी, किसीने उसे देखा, कसाई पीछेसे आकर उससे पूछता है कि 'बताओ, गौ इधरसे कहाँ गयी ?' अब यदि वह गौका पता बतलाता है तो कसाई गौको मार डालता है जिससे हिंसा होती है। यदि कहता है कि 'मैं नहीं जानता।' तो असत्य होता है। ऐसे धर्मसंकटमें उसे क्या करना चाहिये ? ऐसा ही एक दृष्टान्त श्रीमद्देवीभागवतमें आता है—

सत्यव्रतका इतिहास

एक ऋषिकुमार गंगा-तटपर निर्जन स्थानमें निवास कर भगवान्‌का भजन-ध्यान किया करते थे। सब लोग इस बातको जानते थे कि वह सदा सत्य ही बोलते हैं, इससे उनका नाम

सत्यव्रत पड़ गया था और उनकी यह ख्याति हो गयी थी कि वे कभी मिथ्या नहीं बोलते !

एक दिन निशठ नामक एक निषाद शिकारके लिये उस वनमें आया और उसने एक शूकरके बाण मारा। भयभीत शूकर दौड़ता हुआ सत्यव्रतके आश्रममें जा पहुँचा, उसका शरीर खूनसे लथपथ था और वह काँप रहा था। मुनिका हृदय दयासे भर गया, शूकर काँपता हुआ आश्रमके एक घने कुञ्जमें छिप गया। मुनि देखते रहे। कुछ ही समय बाद वह व्याध भी वहीं आ पहुँचा और सत्यव्रतसे कहने लगा, 'देव ! मेरा बाण लगा हुआ शूकर किधर गया ? आप सत्य बोलते हैं, यह बात मैं जानता हूँ इसीलिये आपसे पूछ रहा हूँ, मेरा परिवार भूखसे व्याकुल है। हमारी वृत्ति ही पशुओंको मारकर खाना है, अच्छा हो या बुरा हो किसी तरह परिवारका पालन करना पड़ता है। आप सत्यके व्रती हैं, मेरे कुटुम्बी भूखों मर रहे हैं, आप सत्य कहें कि शूकर किधर गया ?' व्याधके वचन सुनकर सत्यव्रत धर्मसंकटमें पड़कर सोचने लगे कि 'यदि मैं 'देखा नहीं' कहता हूँ तो मेरा सत्य व्रत नष्ट होता है, यदि बतला देता हूँ तो यह भूखसे आतुर व्याध उसे मार ही डालेगा, इससे हिंसा होगी। साथ ही, जिस सत्यमें हिंसा है वह सत्य ही नहीं है, जिसमें दया है वही सत्य है। जिसमें जीवोंका हित है

वही सत्य है और सब मिथ्या है ।' अन्तमें उन्होंने भगवतीका स्मरण किया जिससे उनके हृदयमें एक स्फुरणा हुई और वह तत्काल बोल उठे—

या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति ।
अहो व्याध स्वकार्यार्थिन् किं पृच्छसि पुनः पुनः ॥

(देवीभागवत स्क० ३ । ११ । ४१)

'जो (नेत्रशक्ति) देखती है, वह बोल नहीं सकती, जो (वाक्शक्ति) बोल सकती है, वह देख नहीं सकती, अतएव हे स्वार्थी व्याध ! तू मुझे बार-बार क्या पूछता है ?' यों कहकर सत्यव्रतने व्याधको टाल दिया । वास्तवमें बात तो ठीक है । आँख जैसा देखती है, वाणी वैसा-का-वैसा कभी कह नहीं सकती । परन्तु आजकल यों बोलनेसे काम नहीं चलता ।

मर जाय पर असत्य न बोले ।

इसलिये अच्छा तरीका यह मालूम होता है कि सत्यवादी अहिंसाप्रिय पुरुष इस प्रकारके धर्मसंकटमें यह स्पष्ट कह दे 'गौ कहाँ गयी है सो मैं जानता हूँ, पर बताऊँगा नहीं' इसके बदले यदि वह कसाई उस पुरुषको बलपूर्वक मार सके तो भले मार दे । इसी प्रकार किसी सती स्त्रीके सतीत्व लूटने या किसीका धन लूटनेको आनेवाले अपनेसे बलवान् अत्याचारीके सामने दृढ़तासे यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि 'मैं जानता हूँ पर

बताऊँगा नहीं' और यों कहकर वह यदि अत्याचारीके हाथसे मारा जाय तो कोई आपत्ति नहीं । ऐसे स्थलोंमें कहीं-कहींपर मिथ्याभाषणकी भी आज्ञा मिलती है पर साथ ही शास्त्रकी यह आज्ञा है—

आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्रार्थे वापि मानवाः ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते बुधाः स्वर्गगामिनः ॥

'जो अपने, पराये और पुत्रके लिये भी असत्य नहीं बोलते वे ही देवलोकको जाते हैं, इसलिये कभी मिथ्या नहीं बोलना चाहिये । वास्तवमें सत्यवादीके लिये तो मिथ्याभाषणकी अपेक्षा मृत्युको आलिङ्गन करना अधिक महत्त्वकी बात है । हाँ, जहाँ सत्य बोलने या चुप रहनेसे किसी निरपराध जीवके प्राण जाते हों और अपने प्राण देनेपर भी उसके बचनेकी सम्भावना न हो वहाँ तुलनात्मक-दृष्टिसे एक बड़े पुण्य कार्यके लिये मिथ्याभाषणका पाप भी अपने सिर उठाया जा सकता है । इस स्थलपर किया हुआ भी मिथ्याभाषण पाप अवश्य है, परन्तु दूसरेकी प्राणरक्षाके लिये इस पापका स्वीकार करना भी आवश्यक है, यह एक प्रकारका त्याग है । दो धर्मोंके अड़ जाने-पर स्वार्थ-बुद्धि छोड़कर दोनोंको तौलना चाहिये और अपनी बुद्धिमें जो उचित जँचे, वही करना चाहिये । ऐसी स्थितिमें भगवत्-स्मरणसे बुद्धिमें सहज ही सच्ची स्फुरणा हो सकती है ।

अपनी बुद्धि काम न दे तो निकटके किसी साधु पुरुषसे पूछ लेना चाहिये । स्मरण रहे कि, विद्वानोंकी अपेक्षा महात्मा साधुओंकी राय अधिक महत्त्व रखती है !

सत्यपर गीताका सिद्धान्त ।

वाङ्मय-तपके नामसे श्रीमद्भगवद्गीता हमें बोलनेकी बड़ी सुन्दर कला सिखलाती है । यहाँ एक ही श्लोकमें सारी बातें कह दी गयी हैं ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

'जो (सुननेवालेके मनमें) उद्वेग करनेवाला न हो, प्रिय हो, हितकारी हो, यथार्थ हो तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन और परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास हो, वह भाषण ही वाणीका तप कहलाता है ।'

✓ बिना मतलब बोले नहीं, बहुत कम बोले तथा आवश्यकता पड़नेपर उतना और वैसा ही बोले जो यथार्थ और मधुर होनेके साथ-ही-साथ किसीके मनमें उद्वेग पैदा करनेवाला न हो तथा जिससे सुननेवालेका हित होता हो । बाकी समय वाणीसे भगवान्के गुण और नामका ही उच्चारण करता रहे । यही यथार्थ सत्य है ।

क्या करना चाहिये ?

आजकल प्रायः न तो हृदयकी सरलता है और न वाणीकी यथार्थता ! इसीसे वाणीका तेज नष्ट हो गया है। पूर्वकालके इतिहास देखनेसे पता लगता है कि शिक्षित-अशिक्षित, बालक-वृद्ध जो कुछ भी शाप या वरदान दे डालते थे वह सत्य होता था, यह सत्यका ही फल था। पतञ्जलिजीने कहा भी तो है—'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' सत्यप्रतिष्ठ योगीकी वाणी अमोघ होती है।

सत्यका महत्त्व भूल जानेके कारण आजकल हम लोग व्यापारादि कार्योंमें तो स्वार्थवश सत्यका त्याग करते ही हैं, परन्तु हँसी-मजाक और व्यर्थकी बातोंमें भी झूठकी भरमार रहती है। बेमतलब झूठ बोलनेकी आदत भी कम नहीं है।

इससे न तो वाणीमें तेज है, न परमार्थ-साधनकी शक्ति है और न दुनियाँमें ही हमारा कोई विश्वास करता है। सत्यवादीके तनिकसे इशारेपर जगत् विश्वास करता है और मिथ्यावादियोंके दस्तावेजोंमें भी झूठे होनेका डर बना रहता है। अंगरेजी कानूनोंके प्रचारसे भी सत्यको बहुत धक्का लगा है, किसी तरह कानूनके फन्देसे बचकर चाहे सो कर लेनेमें भी प्रायः कोई ग्लानि नहीं रही ! इसीसे वकीलोंके पेशेकी अधिक उन्नति हुई। गाँवोंके किसान भी कपट सीख गये। दस्तावेजोंके सामने जबानका

महत्त्व जाता रहा। कहाँ तो हरिश्चन्द्र-सरीखे नरपतियोंके सत्यके लिये स्त्री-पुत्रादिको बेचकर डोमके घर गुलामी करनेका इतिहास और कहाँ आज जरासे स्वार्थके लिये गंगाजली और गीता हाथमें लेकर मिथ्याभाषणकी पाप-प्रवृत्ति!

नीतिकार कहते हैं कि *'सत्यपूतं वदेत् वाक्यम्'* सत्यसे पवित्र करके वचन कहे, बोलते समय तौल-तौलकर बोले। चाहे सो लबर-लबर न बक जाय! आशीर्वाद-शाप किसीको न देना चाहिये, इसमें वाणीका अपव्यय होता है, असत्यको गुञ्जाइश रहती है और शापादिसे वैर-विरोध तथा पाप-ताप बढ़ते हैं। भविष्यके सम्बन्धमें किसीसे प्रतिज्ञात्मक शब्द नहीं कहने चाहिये। जैसे मैं अमुक कर्म करूँगा, मैं कल जाऊँगा, बल्कि उस समयके अपने निश्चयके अनुसार यों कहना चाहिये कि मैंने अमुक कार्य करना निश्चय किया है। मैं कल जाना चाहता हूँ, या मैंने कल जानेका विचार किया है। कहा जाता है कि एक वार धर्मराज युधिष्ठिरने यह कह दिया था कि 'अमुक कार्य कल करेंगे।' इसपर भीमने उत्सव मनाया और यह कहा कि 'कलतकका तो जीवन निश्चित हो गया, क्योंकि सत्यवादी युधिष्ठिरने कलतककी गैरन्टी दे दी।' इसलिये यथासाध्य कोई भी प्रतिज्ञात्मक शब्द नहीं बोलने चाहिये।

पर साथ ही यह ख़याल अवश्य रखना चाहिये कि शब्दोंके आडम्बरमें कहीं दम्भको स्थान न मिल जाय। 'सत्य' बाहरी

दिखाव नहीं है, मनके सच्चे भावका यथार्थ प्रकाश करना ही 'सत्य' है। चतुराई या छलसे जरा भावको बदलकर शब्द वैसे ही कहे जा सकते हैं, परन्तु उनसे अर्थमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। भावों, उच्चारणकी ध्वनियों तथा इशारोंसे एक ही शब्दके भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। जिसके मनमें कपट है, वह शब्द वैसे ही सजाकर बोल देता है परन्तु भावोंसे उसका अर्थ बदल देता है इसका नाम 'सत्य' नहीं है यह तो सत्यको धोखा देना है। इस दम्भसे परमात्मा कभी प्रसन्न नहीं होते। इसके सिवा कुछ लोग सत्यके व्यर्थ ठेकेदार बनकर जगत्के लिये दुःखरूप भी बन जाया करते हैं। वे लोग ढूँढ़-ढूँढ़कर लोगोंको कड़ी बातें सुनाकर उनका हृदय जलाते हुए शेखी बघारा करते हैं कि 'हम तो खरी कहनेवाले हैं, हमसे तो लल्लोचप्पो नहीं होती, चाहे कोई दुःख पावे या सुख, किसीका भला या बुरा—अपने राम तो हो जैसी फट्कार देते हैं।' मेरी समझसे यों बुरी नीयतसे फट्कारनेवाले दम्भियोंको अन्तमें यमदूतोंके कठोर कोड़ोंकी फट्कार भी अवश्य ही सहन करनी पड़ती है! इसलिये सावधान हो जाना चाहिये।

✓ सत्य वही है जो सरल हृदयसे बिना वाक्-चातुरीके यथार्थ भाषामें और दूसरेके हितके लिये भावसे कहा जाय। जानकर छिपाने या बढ़ानेकी चेष्टा बिल्कुल न हो और कुछ भी न हो सके,

तो वाणीसे सरल सत्यका आश्रय अवश्य ही लेना चाहिये ! एक सत्यसे ही सब कुछ हो सकता है, इसीसे परमात्मा मिल जाते हैं।

सत्यवादी भक्त घाटम ।

जयपुरके पास घोड़ी नामक गाँवमें घाटम नामका एक मीना रहता था। राजपूतानेमें चोरीके लिये यह जाति प्रसिद्ध है। घाटम भी चोरीका ही पेशा करता था, परन्तु वह कभी कभी एक महात्माके पास जाया करता था। महात्मा जानते थे कि यह चोर है पर वे उससे घृणा नहीं करते थे। 'सन्त किसीसे घृणा नहीं किया करते, वे तो सबसे प्रेम ही करते हैं और अपने प्रेमके बलसे ही पापियोंको पापमुक्त कर देते हैं।' एक दिन महात्माने बड़े प्रेमसे घाटमसे कहा, 'बचा ! तू चोरी क्यों नहीं छोड़ देता ?' घाटमने सरलतासे कहा, 'बाबा ! यही तो मेरी जीविका है। चोरी छोड़ दूँ तो परिवारका पालन कैसे हो ? आप और जो कुछ आज्ञा करें सो करनेको तैयार हूँ।' महात्माने कहा, अच्छा बच्चा ! चोरी नहीं छोड़ सकता तो कोई हर्ज नहीं, मेरी बात मानकर चार बातोंका नियम ले ले। (१) सच बोलना (२) साधु-सेवा करना (३) भगवान्को निवेदन किये बिना कुछ भी न खाना और (४) भगवान्की आरती देखना। श्रद्धालु घाटमने चारों व्रत ले लिये, चोर भगवान्के मङ्गलमय मार्गपर आ गया !

साधुओंका डेरा एक जगह नहीं रहा करता। घाटमके गुरु

किसी दूसरे देशमें चले गये। वहाँ भगवान्‌का कोई उत्सव था। गुरुने घाटमको बुलाया। समय थोड़ा था, स्थान था दूर। घाटम गुरुके पास ठीक समयपर कैसे पहुँचे, चोरीकी आदत तो थी ही, उसने राजाकी घुड़सालसे घोड़ा चुराना निश्चय किया।

घाटम राजाकी घुड़सालपर पहुँचा और बेखटके अन्दर घुसने लगा। पहरेदारोंने पूछा 'तू कौन है, बिना पूछे भीतर क्यों जाता है?' घाटम तो सत्य बोलनेकी प्रतिज्ञा कर चुका था, उसने सरलतासे बिना किसी रुकावटके कहा, 'मेरा नाम घाटम है, मैं चोर हूँ, घोड़ा चुराने जाता हूँ।' पहरेदारोंने समझा, चोर कभी यों नहीं बोल सकता, महाराजका कोई नया अफसर होगा। वे कुछ नहीं बोले, घाटम अन्दर गया और चुनकर एक बढ़िया-से-बढ़िया घोड़ा ले आया। दूसरे पहरेदारने फिर पूछा, तो घाटमने कह दिया—'घोड़ा चुराकर ले जा रहा हूँ' पहरेदारने दिल्लगी समझकर उसे जाने दिया। घाटम प्रसन्नताके साथ तेजीसे जा रहा था। एक गाँवके पास पहुँचा, इतनेमें सन्ध्या हो गयी। मन्दिरमें आरती हो रही थी, घाटमने शंख घंटाकी आवाज सुनकर गुरुकी आज्ञानुसार बाहर एक पेड़में घोड़ा बाँध दिया और वह भगवद्भजनमें मतवाला होकर मन्दिरमें आरती देखने चला गया।

इधर पीछेसे असली बात खुली। पता लगा कि घोड़ा ले जानेवाला चोर ही था। चारों ओर खोज होने लगी। पैरोंके

खोज पहचाननेवाले दौड़ाये गये। उनमेंसे कुछ लोग ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी मन्दिरके पास आपहुँचे, जिसके नीचे घोड़ा बँधा था। भक्तवत्सल भगवान्‌ने भक्त घाटमकी दशापर विचार किया, भवबन्धन काटनेवाले भगवान् अपने एक निर्भर-भक्तका बन्धन कैसे देख सकते थे? काले रंगका घोड़ा भगवान्‌की मायासे सफेद हो गया। आरती होनेके बाद घाटम भगवत्-प्रेममें झूमता हुआ नीचे आकर घोड़ेपर सवार हो गया! घाटमने यह नहीं देखा कि घोड़ा पहले किस रंगका था और अब किस रंगका हो गया है! सिपाहियोंने देखा, आदमी वही, वहाँसे यहाँतक खोज वही, साज सामान वही, घोड़ेका कद वही परन्तु रंग दूसरा। उन्होंने सोचा कि आज हमें राजा न मालूम क्या दण्ड देंगे। उनके चेहरेपर आश्चर्य और विषाद छा गया! अन्तमें एक सिपाहीने बड़ी नम्रतासे घाटमसे सब वृत्तान्त कहा, तब घाटमने घोड़ेका रंग देखा और प्रभुकी अलौकिक माया समझकर वह बोला कि, 'भाई! तुम लोग चिन्ता न करो, मैं ही चोर हूँ और यही वह घोड़ा है, इसका रंग तो मेरे भगवान्‌ने पलट दिया है, तुम डरो मत, मैं तुम्हारे राजाके पास चलता हूँ।' घाटमने राजाके पास जाकर गुरुके प्रथम दर्शनसे लेकर अबतककी सब बातें सरलताके साथ राजाको सुना दीं। घाटमका सत्य-पूर्ण अद्भुत वृत्तान्त सुनकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह घाटमको एक सन्त समझकर उसके चरणोंमें गिर पड़ा। राजाने बहुतसा धन देना

चाहा, बालकने कुछ भी नहीं लिया और कहा कि 'राजन्! मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है, गुरुकी सेवामें जाने-आनेके लिये केवल घोड़ा चाहिये।' राजाने प्रसन्नतासे घोड़ा दे दिया। बालक गुरुके पास गया और अन्तमें उस सत्य और भक्तिके प्रतापसे सारे पापोंसे मुक्त होकर भगवान्में लीन हो गया। सत्यके प्रतापसे इहलोक और परलोकमें उसकी महिमा छा गयी।
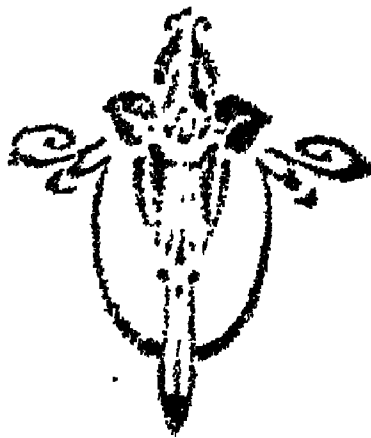
अक्रोध

मानव-धर्मका दसवाँ लक्षण अक्रोध यानी क्रोध न करना है। मनके विरुद्ध कार्य होनेपर जो एक ज्वालामयी वृत्ति उत्पन्न होती है उसे क्रोध कहते हैं। क्रोध उत्पन्न होते ही मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है, उसके कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान लुप्त हो जाता है और वह चाहे सो कर बैठता है। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ आत्माका पतन करनेवाले यह तीन नरकके दरवाजे हैं, अतएव इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।' धर्मराजने कहा है—'क्रोध मनुष्यका नाश कर देता है, क्रोधके वश होकर ही मनुष्य पाप करता है और गुरुजनोंका अपमान, श्रेष्ठ पुरुषोंका कठोर वाणीसे तिरस्कार, तथा सबका अनादर करता है। क्रोधी मनुष्य यह नहीं जान सकता कि कहाँ कैसे बोलना चाहिये और कौन-सा कार्य करना चाहिये। क्रोधमें मनुष्य न मारने योग्य पुरुषको भी मार डालता है, आत्महत्या कर बैठता है, अतएव क्रोधका परित्याग करना चाहिये।'

वास्तवमें क्रोध बहुत-से पापोंका मूल है। क्रोध जितना

दूसरोंको दुःखदायी होता है उससे अधिक अपनेको होता है, क्रोधका आवेश होते ही आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर काँपने लगता है, रोमाञ्च हो जाता है, हृदय जलने लगता है, जबान् बेकाबू हो जाती है और उससे अपशब्द या भले आदमियोंमें न बोलने योग्य शब्द निकलने लगते हैं; दूसरेका अहित करनेसे पहले ही अपने मनमें जलन और दुःख आरम्भ हो जाते हैं। क्रोधी समझता है मैं दूसरेकी बुराई करूँगा परन्तु पहले वह अपनी ही करता है। तदनन्तर यदि दूसरा निर्बल होता है तो उसे मारने दौड़ता है। यदि सबल है तो स्वयं अपने आपको मारने लगता है, कुएँमें पड़ने दौड़ता है, फाँसी लगा लेता है। इसीसे अच्छे समर्थ पुरुष निर्बल मनुष्यद्वारा दुःख पाकर भी उसे पापसे बचानेके लिये उसपर क्रोध नहीं करते, क्योंकि निर्बलके मनमें क्रोध उत्पन्न होनेपर आत्महत्याकी प्रवृत्ति जागृत हो उठती है, कोई-कोई तो आत्महत्या कर भी बैठते हैं जिससे वह महापापी होते हैं।

मनके विरुद्ध बातोंको सहनेका अभ्यास करनेसे क्रोधका नाश होता है। मनुष्यको यह इच्छा क्यों करनी चाहिये कि सब लोग मेरे मनके अनुकूल ही चलें। जब वह स्वयं दूसरोंके अनुकूल नहीं चल सकता तब उसे दूसरोंको सर्वथा अपने अनुकूल चलानेका क्या अधिकार रह जाता है? जब अधिकार नहीं तब प्रतिकूलतामें क्रोध क्यों होना चाहिये?

इसका यह अर्थ नहीं कि कोई किसीसे अच्छी बात भी न कहे, जिन विचारोंको हम ईमानदारीसे उत्तम समझते हैं और जो सब लोगोंकी दृष्टिमें इस समय अनुकूल नहीं है पर उन विचारोंके अनुसार कार्य होनेसे हमारी समझसे सब लोगोंका कल्याण हो सकता है। ऐसे विचारोंका प्रचार प्रतिकूल अवस्थामें भी हमें अवश्य करना चाहिये परन्तु करना चाहिये प्रेमके बलपर, कठोर वाणी या लाठीके ज़ोरसे नहीं! जिन लोगोंके पास प्रेमका साधन रहता है वे प्रतिकूल भाव रखनेवालोंको भी धीरे-धीरे अनुकूल बना सकते हैं, पर जो तीव्र समालोचनाके नामपर कटुताका प्रयोग कर बैठते हैं वे अपनी बात दूसरोंको सुनानेका भी अवसर खो देते हैं। उनकी अच्छी बात भी लोग सुनना नहीं चाहते, और कोई सुनता भी है तो दोषदृष्टिको लेकर, जिससे उसपर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ सकता। प्रचारकी आवश्यकता इसीलिये तो है कि उन बातोंका लोगोंमें अभाव है, लोग उनसे प्रतिकूल विचार रखते हैं। प्रतिकूल विचारवाले सहसा आज ही किसी बातको मान लेंगे यह सम्भव नहीं बल्कि यह अवश्य सम्भव है कि वे नाराज़ होकर क्रोधके आवेशमें आ जायँ, याद रखना चाहिये कि ऐसी स्थितिमें उनका क्रोध अपने मनोनुकूल कार्यमें बाधा पड़नेके कारण स्वाभाविक होता है, वे किसी बुरी नीयतसे क्रोध नहीं करते। ऐसी अवस्थामें उचित यह है कि अपनी शुद्ध नीयतके सच्चे विचारोंका प्रचार

करनेवाले उनके क्रोधको शान्ति और सुखके साथ सहन करते हुए उनसे प्रेम करें, उनके क्रोधका बदला क्षमा और सेवासे दें, उनकी गालियोंका और मारका बदला परमेश्वरसे उनका कल्याण चाहनेकी प्रार्थनाके रूपमें दें। वह भी ढोंगसे या उन्हें चिढ़ानेके लिये नहीं, पर सच्चे हृदयसे! यदि ऐसा होगा तो हमारे विचारोंका प्रचार होना कोई बड़ी बात नहीं, आज नहीं तो कुछ दिनों बाद होगा। परन्तु यदि प्रचारक अपनेसे प्रतिकूल रहने या बोलनेवालेको शत्रु समझने लगेगा, अधिक क्या, उस-पर तनिक-सा भी क्रोध करेगा तो उसके शुद्ध विचारोंमें विकृति उत्पन्न हो जायगी, उसका हृदय द्वेषको स्थान दे बैठेगा। शुद्ध विचारोंके प्रचारकी इच्छा क्रमशः परदोषदर्शन, परदोष-प्रकाश, मिथ्या दोषारोपण, निन्दा और प्रतिपक्षी समझकर दूसरोंको हर तरहसे नीचा दिखाने और गिरानेकी घृणित इच्छाके रूपमें परिणत होकर उसके मन-वचन-कर्मको दूषित और कलङ्कित कर देगी, और पथभ्रष्ट लोगोंको सुपथपर लानेके लिये मनमें जो दया उत्पन्न हुई थी वह पथभ्रष्टोंको प्रतिपक्षी या वैरी समझनेके कारण हिंसा बनकर उभयपक्षके कष्ट और सन्तापका कारण बन जायगी। फिर दोनों ओरकी शक्ति पर-छिद्रान्वेषण, गालीगलौज और पर-अपकारमें ही व्यय होने लगेगी। बहुत जगह प्रायः ऐसा ही हुआ करता है और आज-

कल हो भी रहा है। अपनी छातीपर हाथ रखकर हम स्वयं विचार कर सकते हैं।

यह परिणाम तो असहिष्णु होनेके कारण, प्रायः शुद्ध नीयतवाले कार्यकर्ताओंकी कार्यप्रणालीसे हो जाता है, पर जो लोग किसी निजी स्वार्थवश अच्छे विचारोंके प्रचार करनेका स्वांग रचते हैं वे तो बड़े ही भयङ्कर जीव हैं, उनके द्वारा तो समाज तथा देशका अहित ही होता है। स्वार्थी मनुष्य किसका हिताहित सोचता है? उसे तो अपना उल्लू सीधा करनेसे मतलब। अतएव शुद्ध नीयतवाले पुरुषोंको भी सहिष्णु अवश्य बनना चाहिये, उन्हें क्रोधका तो अधिकार ही नहीं है। फिर यह बात भी तो है कि वे जिस एक विचारको आज अपने सच्चे मनसे लोकोपकारी समझते हैं, सम्भव है इसमें वे भूलते हों, प्रतिकूल विचारवालोंकी समझ ही ठीक हो, यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि मुझसे कभी भूल नहीं होती। ऐसी अवस्थामें बात-बातपर क्रोध करके किसी बातको अपने पल्ले बाँध लेना, आगे चलकर अपनी भूल समझमें आ जानेपर भी भूलका त्याग करनेमें बड़ी बाधा पहुँचाता है।

कुछ लोग क्रोधको आवश्यक समझते हैं और उसका नाम तेज रखते हैं परन्तु यह भूल है। हिंसा, क्रोध आदि दुर्गुण कभी आवश्यक नहीं हुआ करते। मनुष्यका स्वभाव वास्तवमें क्रोधी

नहीं है, मनुष्यने इन पशुधर्मोंको भ्रमसे अपना बना लिया है। जिससे अपनी और दूसरोंकी बुराई होती है वह वस्तु आवश्यक कैसे हो सकती है ? तेज तो वह है जिससे पाप करनेवाला मनुष्य भी उस तेजके प्रभावसे बच जाय !

धर्मराज कहते हैं कि 'दक्षता, शूरता और तत्परता ये तेजके गुण हैं, पर ये गुण क्रोधीमें कहाँ रहते हैं ? वह तो कर्तव्यज्ञानशून्य हो जाता है। मूर्ख लोग ही क्रोधको तेज मान लेते हैं।' क्रोध तो रजोगुणका परिणाम है और एक महान् दुर्गुण है। इसपर कुछ लोग कहेंगे कि, 'क्रोध न होगा तो संसारमें पापियोंको दण्ड मिलना बन्द हो जायगा, जिससे अनाचार-अत्याचार बढ़कर जगत्में दुःखका दावानल जला देंगे। चोर, डाकू, बदमाशोंकी संख्या बढ़ जायगी।' पर ऐसा कहनेवाले यह नहीं समझते कि वास्तवमें पापी या चोर-डाकुओंको पहचानना क्या क्रोधीका काम है? क्रोधरत पुरुष तो अपने आपतकको पहचानना भूल जाता है, सगे मातापिताकी पहचान खो देता है, वह पापीपुण्यात्माका निर्णय कैसे कर सकेगा ? उसके हाथमें दण्डविधान होनेपर वह तो उन्मत्तकी भाँति दोषी-निर्दोषी सभीको दण्ड देने लगेगा। सत्यपर आरूढ़, खुशामद न करनेवाले भले लोग मारे जायँगे, और खुशामदी नीच निष्ठुर लोग उसके तलुए चाटकर बच जायँगे। न्याय और धर्मका नाश हो जायगा।

इसीलिये न्यायका कार्य शान्त, शिष्ट और विचारशील विवेकी पुरुषके जिम्मे रहता है न कि क्रोधीके। न्यायाधीश यदि क्रोधी होगा तो वह न्याय कैसे कर सकेगा? और जो दण्ड न्यायरहित केवल क्रोध या क्रोधजनित द्वेष, हिंसा या प्रतिहिंसासे प्रेरित होकर दिया जायगा, वह अन्याय-युक्त दण्ड तो पाप, ताप, अनुताप और अशान्तिको बढ़ानेका ही कारण होगा। आजकल अंगरेजी-शासनमें यहाँ ऐसे कई उदाहरण मिल सकते हैं। इससे दण्ड देनेमें क्रोधकी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती।

फिर क्या दण्डसे ही अपराध मिटते हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि एक बार पथभ्रष्ट होकर किसी प्रकार पापाचरण करनेवाले मनुष्योंको समाज या राजने दण्ड दे-देकर ढीठ, निरंकुश और भयानक पापोंका अभ्यासी बना दिया है। दण्डके स्थानपर यदि प्रेम होता, तो शायद जगत्में इतने अपराधों और पापोंकी सृष्टि ही न हुई होती। ज्यों-ज्यों अस्पताल बढ़ते हैं त्यों-ही-त्यों रोग बढ़ते हैं, ज्यों-ज्यों कानून बढ़ते हैं त्यों-ही-त्यों कानूनसे बचनेकी छलपूर्ण कला भी बढ़ती है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों दण्ड बढ़े त्यों-ही-त्यों अपराध भी बढ़ते गये। दण्डसे भीति बढ़ती है परन्तु पापवासनाका नाश नहीं होता। पापवासनाका नाश तो प्रेमपूर्वक विवेक उत्पन्न कराने और क्षमाशील पुरुष-द्वारा परमात्मासे उसके लिये की जानेवाली क्षमा-प्रार्थनासे

होता है। दण्डसहन करते करते तो मनुष्यकी प्रकृति ही पापमयी बन जाती है। पापोंसे उसकी घृणा निकल जाती है। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि एक बार किसीको दण्ड हुआ, दण्ड भुगतनेके बाद समाजने उससे उसी प्रकार घृणा की, पुलिसकी दुःखदायिनी पैनी नज़र उसपर सदा बनी रही, कुछ घृणा और कुछ पुलिसके भयसे लोगोंने उसे पासतक नहीं बैठने दिया, आजीविका नष्ट हो गयी, भूखके मारे प्राण जाने लगे '*बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्*' कोई उपाय न देखकर किसी तरह पापी पेटके लिये कुछ रोटियाँ तो मिल जायँगी, यह सोचकर किसी भी बहाने उसने जेल जाना उचित समझा और कोई ऐसा अपराध किया जिससे वह जेल चला गया। यों होते-होते वह महाअपराधी और जेलका कीड़ा बन गया। समाजने घृणा न की होती, राजने व्यर्थ न सताया होता तो उसका जीवन सुधरना सम्भव था। सभी अपराधी जन्मगत पापी-प्रकृतिके नहीं होते, कुसङ्गवश या परिस्थितिमें पड़कर पाप करनेवाले ही अधिक होते हैं। उनका जीवन शुद्ध बनाये रखनेकी जिम्मेवारी समाजपर है और यह काम अक्रोधी पुरुष ही कर सकते हैं!

अक्रोधका अर्थ कायरता नहीं है। इस विषयमें क्षमाके प्रकरणमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है, फिरसे दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि क्रोधका दमन

किये बिना मनुष्य न तो स्वयं सुखी हो सकता है और न उसके द्वारा समाज या देशका ही मङ्गल सम्भव है। जो स्वयं रात-दिन जलता और दूसरोंको जलानेके लिये ही जीवन धारण करता है, जिसे देखकर लोग काँप उठते हैं वह क्रूर मनुष्य जगत्का क्या मङ्गल कर सकता है? क्रूरता क्रोधका ही परिणाम है।

तो क्या पुत्र, शिष्य या सेवकोंपर भी क्रोध नहीं करना चाहिये? अवश्य ही क्रोध तो कभी किसीपर भी नहीं करना चाहिये। तो क्या माता-पिता अपनी सन्तान और गुरु शिष्यादिको जो शिक्षा देते हैं वह अनुचित है? नहीं, वह तो उचित है, क्रोधके साथ अविचार और द्रोह रहता है परन्तु पुत्र, शिष्य या सेवकको माता, पिता, गुरु या भला मालिक जो कभी शिक्षाके लिये कुछ कहता है उसमें तो उनका हित समाया रहता है। अपने बच्चों और शिष्योंको कोई दूसरा कुछ कह बैठे तो माता, पिता, गुरु उससे लड़ने लगते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि उनमें उनका ममत्व है। जिसमें ममत्व है उसके नाशकी इच्छा कोई नहीं करता, नाशकी इच्छा अविचारसे होती है, क्रोधमें अविचारकी प्रधानता रहती है। जिसमें अविचार नहीं परन्तु विवेक-बुद्धि है, जिसमें जलन नहीं है, जिसका मन विकारसे रहित है, जिसमें उसी समय तीसरे व्यक्तिसे सरल हास्ययुक्त बातचीत कर सकनेकी

पूरी गुञ्जाइश है वह क्रोध कहाँ है ? वह तो क्रोधका स्वांगमात्र है। तो क्या वह दम्भ है ? जो बात मनमें नहीं और ऊपरसे दिखलायी जाती है वही तो दम्भ है ! बात ठीक है, पर वह दम्भ नहीं है वह तो सन्तान और शिष्योंकी नित्य भावी मंगल-कामनासे, उन्हें सत्पथपर लाने और कायम रखनेके लिये गुरुजनोंके हृदयमें एक स्वाभाविक कर्तव्यकी प्रेरणा होती है जो सन्तान और शिष्य आदिको क्रोधरूपमें दीखनेपर भी असलमें क्रोध नहीं परन्तु रोगनाशके लिये दी जानेवाली कड़वी दवाके सदृश कठोरतासे आच्छादित एक स्नेहपूर्ण कोमल वृत्तिकी क्षणिक भयावनी क्रिया होती है। यदि वास्तवमें क्रोध हो तो उससे अनर्थ ही सम्भव है चाहे वह किसीपर भी हो !

नौकरोंके प्रति तो क्रोध करनेका कोई अधिकार ही नहीं है। वे हमसे गरीब हैं, उनके पास अर्थका संकोच है इसीलिये वे हमारी नौकरी करते हैं। उनको किसी तरह अपनेसे छोटा या हीन नहीं समझना चाहिये। इसका यह मतलब नहीं कि नीति छोड़कर नौकरोंसे काम न करावे या उन्हें सिर चढ़ा ले। मतलब यही है कि उनके साथ योग्यतानुसार मित्र या शिष्यके या सन्तानके प्रति जैसा वर्ताव किया जाता है वैसा ही प्रेमपूर्ण वर्ताव नीतिको सदा साथ रखते हुए करना चाहिये।

परमार्थके मार्गमें तो क्रोध एक महान् प्रबल शत्रु है, जबतक

क्रोध है तबतक परमार्थमें उन्नतिलाभ करना बहुत ही कठिन है। जहाँ मनकी जरा-सी प्रतिकूलता सहन करनेकी शक्ति नहीं, वहाँ पारमार्थिक उन्नतिकी आशा कहाँसे की जाय? क्रोध ऐसी आग है जो सारे शरीरमें ज्वाला फूँक देती है, जिसका शरीर-मन क्रोधाग्निसे धधक उठता है उससे परमात्माका भजन कब सम्भव है।

एक कहानी

एक जिज्ञासु किसी सन्तके पास गया और उनसे प्रार्थना की कि 'महाराज! मुझे भगवान्‌के दर्शन हों ऐसा उपाय बतलाइये।' सन्तने पूरे एक वर्षतक एकान्तमें बैठकर निरन्तर भजन करनेकी आज्ञा दी, और कहा कि वर्ष पूरा हो उस दिन मनको मारकर नहा-धोकर मेरे पास आना! जिज्ञासु भजन करने लगा। सन्तकी कुटियामें एक भंगी झाड़ू देने आया करता था। वर्ष पूरा होनेके दिन सन्तने उससे कहा कि अमुक स्थानमें एक मनुष्य बैठा भजन करता है, वह जब नहाने लगे तब उसके पास जाकर झाड़ूसे धूल उड़ाना। भंगीने ऐसा ही किया। जिज्ञासु क्रोधमें भर-कर मारने दौड़ा और बोला कि 'दुष्ट! तूने मुझे अपवित्र कर दिया' तदनन्तर वह फिरसे नहाकर सन्तके पास गया और बोला—'प्रभो! एक वर्ष पूरा हो गया है अब तो भगवान्‌के दर्शन होने चाहिये।' सन्तने कहा—'भाई! तेरा मन अभी मरा कहाँ है, अभीतक तो तू साँपकी तरह काटने दौड़ता है, जा! सालभर

फिर भजन कर और मनको मार !' जिज्ञासुने फिर एक वर्ष तक भजन किया । दूसरा वर्ष पूरा होनेके दिन सन्तने उसी भंगीसे फिर कहा कि 'आज वह नहाकर आवे तब तू उसके शरीरसे झाड़ू छुआ देना' भंगीने यह किया । इस बार जिज्ञासु मारने तो नहीं दौड़ा परन्तु दो-चार कड़ी-मीठी सुनाकर उसने भंगीका तिरस्कार किया और फिरसे नहाकर सन्तके पास गया तथा भगवद्-दर्शनके लिये प्रार्थना की, सन्त बोले—'जिज्ञासु ! अभीतक तेरा मनरूपी सर्प फुफकार मारता है । इसके मरे बिना भगवान् कैसे मिलें, जा एक साल फिर साधन कर । देख ! इस बार परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हुआ तो फिर तुझे भगवान् नहीं मिलेंगे !' जिज्ञासु अबकी बार बड़ी दृढ़तासे आसनपर बैठा, साल पूरा होनेके दिन सन्तने भंगीसे कहा कि—'भाई ! आज तू जाकर उसके नहाकर उठते ही कूड़ेकी टोकरी माथेपर डाल देना !' भंगीने ऐसा ही किया । जिज्ञासु क्रोधको जीत चुका था, उसने भंगीको प्रणाम किया और बड़ी दीनतासे बोला—'भाई ! तूने मेरा बड़ा उपकार किया, तू ऐसा न करता तो मैं क्रोधके चंगुलसे कैसे छूटता ? तुझे धन्य है !'

इसीलिये श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने 'तृणसे भी अधिक दीन, वृक्षके समान सहनशील, अमानी और दूसरोंको मान देने-

इसी [illegible]कर भजन करनेकी आज्ञा दी है।' क्षमा और निरहं[illegible] विवेकी पु[illegible] शस्त्रोंसे ही क्रोधरूपी शत्रुपर विजय प्राप्त की जा सक[illegible] ोधी [illegible]। बौद्ध-ग्रन्थ धम्मपदमें लिखा है 'जो भड़के हुए क्रोधके बह[illegible] [illegible]ए रथको रोक सकता है वही बुद्धिमान् रथी है, सिर्फ हाथसे[illegible] म पकड़े रहनेमें कोई चतुराई नहीं है।'

भगवान् गीतामें कहते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

'जो शरीर-नाशके पहले ही काम, क्रोधसे उत्पन्न वेगको [illegible]कता है यानी काम, क्रोधको जीत लेता है वही मनुष्य और सुखी है।'

महात्मा चरणदासजी कहते हैं—

—जेहि घट आवे धूमसूँ, करै बहुत ही ख्वार।
पति खोवै बुधिकूँ हनै, कहा पुरुष कहा नार॥

—वह बुद्धि भ्रष्ट करि डारै, वह मारहि मार पुकारै।
वह सब तन हिंसा छावै, कहिं दया रहन ना पावै॥
वह गुरुसूँ बोले बैंडा, साधूसूँ डोलै पेंडा।
वह हरिसूँ नेह छुटावै, वह नरक माहिं ले जावै॥
वह आतमघाती जानो, वह महामूढ़ पहचानो।
सोटोंकी मार दिलावै, कबहूँ वह शीश कटावै॥
[illegible]ह नीच कमीना कहिये, ऐसे सूँ डरता रहिये।

ह निकट न आवन दीजै, अरु छिमा अंक भरि
ब छिमा आय कियो थाना, तबसबहीं क्रोध हि
अन्तमें भक्त कबीरजीके वचन सुन लीजिये—
—कोटि करम लागे रहैं, एक क्रोधकी लार।
किया कराया सब गया, जब आया हंकार॥
दसों दिसासे क्रोधकी, उठी अपरबल आग।
सीतल संगत सन्तकी, तहाँ उबरिये भाग॥
कुबुधि कमानी चढ़ रहीं, कुटिल वचनका तीर।
भरि भरि मारै कानमें, सालै सकल शरीर॥
जहाँ दया तहँ धरम है, जहाँ लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ क्षमा तहँ आप॥
कबीर नवै सो आपको, परको नवै न कोय।
घालि तराजू तौलिये, नवै सो भारी होय॥
ऊँचे पानी ना टिकै, नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिवै, ऊँचा प्यासा जाय॥

भगवान् नारद कहते हैं—

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधसंसारसाधनम्।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्तं परिवर्जयेत्॥

'क्रोध ही मनके सन्तापकी जड़ है, क्रोध ही
डालता है और क्रोधसे ही धर्मका नाश होता है
र्वथा त्याग करना चाहिये।'